अश्वघोष-कृत

सौन्दरनन्द काव्य

सानुवाद

रिरंसा यदि ते तस्माद्ध्यात्मे धीयतां मनः ।
शान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः ॥
तत्र कार्यं तूर्यैस्ते न स्त्रीभिर्न विभूषणैः ।
एकस्त्वं यत्रस्थस्तया रत्याभिरंस्यसे ॥"

—सर्ग ११, श्लोक ३४-३५ ।

सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

(अध्यक्ष-अध्यापक, संस्कृत-विभाग,
पूर्णिया कालेज, पूर्णिया)

द्वितीय संस्करण] मई १९५९ ई० [मूल्य ३)



अश्वघोष-कृत

सौन्दरनन्द काव्य

सानुवाद

"यदि तुम आनन्द चाहते हो तो अपने मनको अध्यात्ममें लगाओ; शान्त एवं निर्दोष अध्यात्म-आनन्दके समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है। उस (अध्यात्म-रति) में तुम्हें संगीत स्त्रियों या आभूषणोंका काम नहीं होगा; जहाँ-कहीं भी रहकर अकेले ही तुम उस (अध्यात्म-) आनन्दमें रमोगे।"

—११।३४-३५।

सम्पादक और अनुवादक
सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०
(अध्यक्ष-अध्यापक, संस्कृत-विभाग,
पूर्णिया कालेज, पूर्णिया)

द्वितीय संस्करण] मई १९५९ ई० [मूल्य ३)

प्रकाशक
संस्कृत-भवन, कठौतिया
पो० काझा, जिला पूर्णियाँ (विहार)

प्रथम संस्करण १००० श्रावण २००५ वि० सं०
द्वितीय संस्करण १२५० वैशाख २०१६ वि० सं०

मुद्रक
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, प्राइवेट, लिमिटेड,
वाराणसी-शाखा।

निवेदन

आज जिस प्रदेश (=क्षेत्र) की भाषा हिन्दी है उसे प्राचीनकालमें मध्य देश कहते थे। इसी मध्यदेशमें भगवान् बुद्ध और उनके शिष्योंने जनताकी भाषामें कल्याण-कारी उपदेश दिया था। काल-क्रमसे जब पालि-प्राकृतके स्थानमें संस्कृतका प्रचार बढ़ा, इसे राज-आश्रय प्राप्त हुआ तो बुद्ध-निर्वाणके कोई चार सौ वर्ष बाद मध्यदेशके महाकवि अश्वघोषने संस्कृतमें 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' नामक दो उत्तम काव्य लिखे।

बुद्ध की जीवनी और उपदेशकेलिए ये दोनों ही ग्रन्थ एक-दूसरेके पूरक हैं। काव्यकी दृष्टिसे 'सौन्दरनन्द' उत्कृष्ट है। इससे भी बढ़कर, इसमें मुक्ति और शान्तिका संदेश है। सदाचार और चित्त-शुद्धिकी शिक्षा है। आत्मोन्नति और लोकोपकारकेलिए प्रेरणा है।

इस उपयोगी ग्रन्थ-रत्नका हिन्दीमें एक पूरा अनुवाद होना आवश्यक समझकर ही मैंने यह प्रयत्न किया है। अश्वघोषने 'बुद्धचरित' पहले लिखा और 'सौन्दरनन्द' पीछे। यह संयोग है कि अनुवाद भी इसी क्रमसे हुआ।

मैं स्वर्गीय डा० ई० एच० जौन्स्टन (आक्सफोर्ड) और स्वर्गीय डा० लक्ष्मण स्वरूप (लाहौर) का हृदयसे कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अश्वघोषकी कृतियोंका हिन्दीमें अनुवाद करनेके लिए मुझे उत्साह-वर्धक पत्र लिखे थे।

'सौन्दरनन्द' काव्यका अनुवाद करनेमें मुझे जौन्स्टन-कृत अंग्रेजी अनुवादसे बड़ी सहायता मिली है। लाहा-कृत बँगला अनुवाद भी जहाँ तहाँ देखा है। हिन्दीमें भी पं० रामदहीन पांडेय-कृत एक भावात्मक अनुवाद है, किंतु वह बहुत ही संक्षिप्त है। भूमिका लिखनेमें जौन्स्टनकी कृतियोंके अतिरिक्त हालमें लाहा द्वारा लिखित 'अश्वघोष' शीर्षक पुस्तिकाका भी उपयोग किया है। स्वर्गीय डा० बेणीमाधव बरुआने मुझे अश्वघोषके सम्बन्धमें अनेक खोज-पूर्ण बातें बतलाई थीं। डा० सुकुमार सेनने 'सौन्दरनन्द काव्यकी भाषा' शीर्षक अपना लेख तथा श्रीमती तुहिनिका चटर्जी, एम० ए०, काव्यतीर्थने ल्युडर्स-कृत एक जर्मन लेख (Palm-Leaf Manuscipts From Chinese Turkestan) का अपना अंग्रेजी-अनुवाद भेजकर मुझे अनुगृहीत किया है।

मैंने अपने इस अनुवादका कोई भी अंश किसी भी पत्र-पत्रिकामें नहीं छपवाया। हाँ, अनुवाद शुरू करनेसे वर्षों पहले १९३९ ई० में आनन्द जी द्वारा सम्पादित 'धर्मदूत' में 'नन्द और सुन्दरी' शीर्षक 'सौन्दरनन्द' का कथा-सार तथा 'भोजन' शीर्षक चौदहवें सर्गके आरम्भिक श्लोकोंका अनुवाद प्रकाशित हुआ था।

अज्ञान और असावधानीके कारण इस पुस्तकमें जो त्रुटियाँ रह गई हों उनकी सूचना यदि विज्ञ पाठकोंसे मुझे प्राप्त हो सके तो मैं उन्हें अगले संस्करणमें सुधारनेका प्रयत्न करूँ।

कठौतिया

२३ जून १९४८ ई०

सूर्यनारायण चौधरी

विषय-सूची

——

भूमिका

अश्वघोष कवि उपदेशक, आचार्य और संन्यासी थे। साकेतके रहनेवाले थे[1]। किम्वदन्ती है कि उनका जन्म ब्राह्मण-कुलमें ही हुआ था और उन्हें ब्राह्मण धर्मकी ही शिक्षा-दीक्षा मिली थी। अपने आरम्भिक जीवनमें वे काम-भोगमें असक्त रहे होंगे और पीछे बौद्ध-धर्ममें दीक्षित होकर बौद्ध संन्यासी हो गये थे[2]। यही कारण है कि धर्म-दीक्षाका विषय उन्हें बहुत प्रिय था और उनकी दो कृतियों 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' का विषय क्रमशः नन्द-दीक्षा और शारिपुत्र-दीक्षा ही है। वे मध्य-देशमें घूम घूमकर उपदेश देते थे। इस कामके लिए उन्होंने काव्य और संगीतका सहारा लिया।

उन्होंने वेद-उपनिषद् और रामायण-महाभारतका अध्ययन किया था। वे काम-शास्त्र राजशास्त्र दण्डनीति सांख्य योग काव्य-धर्म व्याकरण और छन्दःशास्त्रमें निपुण थे। बौद्ध धर्ममें दीक्षित होकर उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थों (विशेषतः सूत्रपिटक) का गम्भीर

---

१. "आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्" — कवि-कृत 'सौन्दरनन्द' 'बुद्धचरित' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' का अन्तिम वाक्य।

२. अहो बताश्चर्यमिदं विमुक्तये करोति रागी यदयं कथामिति।
—सौ० १८।५८

—यह वाक्य संभवतः इन्हींके जीवनकी ओर संकेत करता है।

अध्ययन किया और बुद्धके मौलिक उपदेशोंको हृदयङ्गम किया। वे स्थविरवादी और हीनयानी थे। हीनयानके अन्तर्गत सर्वास्तिवादी या सौत्रान्तिक[१] थे। उनका आदर्श अर्हत् (जीवन्मुक्त) था।

'बुद्धचरित' के अन्तिम सर्गमें कविने अशोकके धर्मानुरागका जो उल्लेख किया है, उससे सिद्ध होता है कि वे अशोक (२६५-२११ ई० पू०) के बाद हुए थे। उनके 'बुद्धचरित' का चीनी अनुवाद पाँचवीं शतीके आरम्भमें हुआ था। अतः वे इससे बहुत पहले हुए होंगे। वे कालिदास और भासके भी पूर्ववर्ती थे। बुद्धचरितकी भूमिकामें कई प्रमाणों के आधारपर मैंने लिखा है कि वे आजसे प्रायः दो हजार वर्ष पहले हुए थे। डा० लाहाके अनुसार अश्वघोषको प्रथम शती ई० पू० में रखना असंगत न होगा।

कालिदासने लोगों के आनन्दके लिए, विद्वानोंके परितोषके लिए, काव्य और नाटक लिखे थे। किन्तु अश्वघोषने विषय-रत्त मोक्ष-विमुख लोगों को सन्मार्गपर लानेके लिए काव्य और नाटक लिखे थे। इन्होंने मोक्ष-धर्मरूपी कटु ओषधिको काव्यरूपी मधुके प्रयोगसे स्वादिष्ठ बनाया था। यद्यपि कालिदासकी तरह कला और सौन्दर्यके लिए नहीं, बल्कि उपदेश और शिक्षाके लिए उनकी कृतियाँ रची गई थीं, तो भी कवि की अप्रतिम प्रतिभाके कारण वे संस्कृत साहित्यकी सुन्दरतम कृतियोंमें से हैं।

---

१. स्वर्गीय डा० वेणीमाधव बरुआने मुझे बतलाया था कि अश्वघोष निश्चित रूपसे सौत्रान्तिक थे।

उनकी कृतियोंके बारे में 'बुद्धचरित' की भूमिकामें सविस्तर लिखा जा चुका है। यह निर्विवाद है कि 'बुद्धचरित' 'सौन्दरनन्द' तथा 'शारिपुत्र-प्रकरण' के रचयिता अश्वघोष ही हैं। 'शारिपुत्र-प्रकरण' के साथ प्राप्त दो और नाटक भी संभवतः इन्हींके लिखे हुए हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि 'सौन्दरनन्द' को छोड़कर उनकी अन्य सभी रचनाएँ हमें खण्डित ही मिली हैं। 'शारिपुत्र-प्रकरण' आदि तीन नाटकोंके कुछ अवशेष ही प्राप्त हुए हैं। दो नाटकोंके अवशेषको देखकर उनके नाम भी नहीं मालूम होते हैं। मूल संस्कृतमें 'बुद्धचरित' का पूर्वार्ध ही उपलब्ध है; किन्तु तिब्बती और चीनी भाषाओंमें सम्पूर्ण पुस्तक सुरक्षित है।

'सौन्दरनन्द' काव्यकी दो ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशामें हैं और नेपाल महाराजके पुस्तकालयमें सुरक्षित हैं। इनके आधारपर शुद्ध और कहीं कहीं पूरा पाठ निश्चित करना असंभव-सा है। पहले पहल स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीने इन प्रतियों के आधारपर इस काव्यको सम्पादित करके १९१० ई० में प्रकाशित करवाया था। उन्होंने बहुत परिश्रम करके अनेक दूषित पाठोंका संशोधन किया था। उनके सम्पादित संस्करणके प्रकाशित होनेके बाद यूरोपके अनेक सुयोग्य विद्वानोंने भी सफलतापूर्वक कितने ही स्थलोंके पाठोंमें सुधार किया। १९२८ ई० में मूल प्रतियोंके आधारपर तथा मुद्रित संस्करण एवं विद्वानोंके सुझाये पाठ-सुधारोंका उपयोग करते हुए स्वर्गीय डा० जौन्स्टनने इस काव्यका एक सुन्दर संस्करण निकाला। इतना होनेपर भी इसमें कहीं कहीं पाठ-दोष और रिक्त स्थान हैं ही। मैंने डा० जौन्स्टनके संस्करणका अनुसरण

किया है। किंतु कहीं कहीं दूसरा उपयुक्त पाठ-भेद भी अपनाया है और कहीं कहीं पाद-टिप्पणियों में नये पाठ भी सुझाये हैं।

पाठ-दोषोंके रहते हुए भी अश्वघोषके दोनों ही काव्य उत्कृष्ट हैं। काव्यके सभी अङ्गोंसे परिपूर्ण हैं। 'काव्यादर्श' (१।१४-१९) में दी गई काव्यकी परिभाषा को चरितार्थ करते हैं। काव्यका एक आवश्यक अङ्ग युद्ध-वर्णन भी है। 'सौन्दरनन्द' के सप्तदश सर्गमें नन्दका आध्यात्मिक सङ्घर्ष दिखलाकर कविने इस आवश्यकताकी पूर्ति की है।

काव्य-विकासके क्रममें अश्वघोष वाल्मीकिके बाद और कालिदासके पहले आते हैं। काव्यमें जिस तरह वे वाल्मीकिके ऋणी और उत्तराधिकारी थे वैसे ही कालिदास भी उनके ऋणी थे। अश्वघोषने वाल्मीकिको आदि कवि और धीमान् कहकर उनके प्रति आदर-भाव प्रकट किया है। 'बुद्धचरित' में रामायणके दृश्योंसे तुलना करते हुए कवि ने कहा है—

"राजा अजके बुद्धिमान् पुत्र, इन्द्रके मित्र, नराधिप दशरथसे मुझे ईर्ष्या है, जो पुत्रके वन जानेपर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आँसू बहाते हुए दीन होकर जीवित नहीं रहे।' " बु० च० ८।७९।

"तब रथ छोड़कर मंत्रीके साथ पुरोहित उस (राजकुमार सिद्धार्थ) के समीप गये, जैसे वन में स्थित रामके समीप वामदेवके साथ दर्शनाभिलाषी मुनि वसिष्ठ गये थे। " बु० च० ९।९।

भाव भाषा उपमाओं और दूसरे अलंकारोंमें 'रामायण' का प्रभाव अश्वघोष की कृतियोंमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किंतु इस प्रभाव के अतिरिक्त उनकी कृतियोंमें कुछ पृथक्ता और नवीनता भी पाई जाती है, जिसका विकास परवर्ती काव्यों में

हुआ है। 'रामायण' के श्लोक अर्थ और व्याकरण की दृष्टिसे एक दूसरेसे मिले हुए हैं, जबकि अश्वघोषका प्रायः प्रत्येक, श्लोक इस दृष्टिसे पृथक् इकाई है। इनकी दूसरी नवीनता छन्दोंकी विविधता है। यह नवीनता और भिन्नता हठात् ही नहीं, बल्कि उनके उन पूर्ववर्ती काव्योंके माध्यमसे ही आई होगी जो काल-क्रमसे नष्ट हो गये।

अश्वघोषकी शैली सरल है। समास छोटे छोटे हैं। कितने ही श्लोकोंमें तो एक भी समास नहीं है (सौ० १५। ३६-३७; १३। ३१, ३२, ३४। चार शब्दोंसे अधिकके समास बहुत कम हैं। अश्वघोषने उपमाओंका खूब प्रयोग किया है। 'मिलिन्द प्रश्न' के आचार्य नागसेनकी तरह उन्होंने उपमाओंके सहारे ही कठिनसे कठिन बौद्ध सिद्धान्तोंको आश्चर्यजनक सरलतासे समझाया है (सौ० १६।२८-२९)। उन्होंने संस्कृत और पालि साहित्य, लोक-जीवन और प्रकृतिसे उपमाओंका चुनाव किया है। साधारणतः उनकी उपमाएँ सुन्दर और उपयुक्त हैं।

दूसरे अलङ्कारोंमें 'दीपक' का प्रयोग स्थान स्थानपर हुआ है (सौ० २।१५ ग घ, १६ ग घ, २८ क ख, ३९ क ख, ५)। और भी कई अलङ्कार पाये जाते हैं। कालिदासने जिस 'अर्थान्तर-न्यास' का पद पदपर प्रयोग किया है वह अश्वघोषकी कृतियोंमें कठिनाईसे ही ढूँढ़ा जा सकता है।

'सौन्दरनन्द' में भाँति भाँतिके 'यमक' के उदाहरण पाये जाते हैं। १।५६ के दूसरे पाद में 'करं' की तथा चौथे पाद में 'पुरं' की आवृत्ति हुई है। ६।४६ तथा १०।५६-५७ के प्रत्येक पादमें यमक

है। १।३ में समूचे पादकी आवृत्ति हुई है। कहीं कहीं तो सम्पूर्ण श्लोक ही दुहराया गया है (१६ । २८-२९)।

'बुद्धचरित' की तरह 'सौन्दरनन्द' में भी अनेक प्रकारके छन्द व्यवहृत हुए हैं। कुल १०६३ पद्योंमें से ३८४ 'श्लोक' में और ४५६ 'उपजाति' में हैं। 'वंशस्थ' 'शिखरिणी' आदि दूसरे छन्द भी पाये जाते हैं। कहा जाता है कि सप्तम सर्गका अन्तिम पद्य ही 'मन्दाक्रान्ता' का पूर्व रूप है। इसी का उपयोग करके शिला-लेखक हरिषेण या महाकवि कालिदासने या दोनों ने ही अलग अलग 'मन्दाक्रान्ता' का आविष्कार किया होगा।

अश्वघोषने साधारणतः व्याकरणके नियमोंका पालन किया है। सौ० १२।९-१० में उपमाद्वारा व्याकरणके नियमोंका उल्लेख किया है। दसवें श्लोकमें उल्लिखित नियम पाणिनिके व्याकरणमें नहीं है। 'सौन्दरनन्द' में कहीं कहीं जान पड़ता है जैसे 'भट्टिकाव्य' की तरह काव्यके माध्यमसे व्याकरणकी शिक्षा दी गई हो। दूसरे सर्गमें 'लुङ्' का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। केवल ६।३४ में ही 'लिट्' के बारह रूप दिये गये हैं। १०।१ में अनेक सन्नन्त रूप प्रयुक्त हुए हैं। समापिका क्रियाके प्रचुर प्रयोग हुए हैं। भूतकालके लिए 'लङ्' 'लुङ' और 'लिट्' के प्रयोगमें कोई विभेद नहीं है। सम्पूर्ण पुस्तकमें 'लिट्' का ४६० बार, 'लुङ्' का ११८ बार तथा 'लङ्', का ३८ बार प्रयोग हुआ है। कारक, विभक्ति, समास, क्रिया आदिके प्रयोगमें अनेक स्थलोंपर व्याकरणसे भिन्नता भी पाई जाती है। किंतु इस भिन्नताका कारण पाठ-दोष भी हो सकता है और कहीं कहीं इसका समर्थन 'रामायण' और 'महाभारत' में भी प्राप्त है।

संज्ञाओंके कुछ विचित्र रूप मिलते हैं। 'वर्ष' (२।५३), 'प्रकोष्ठ' (६।२७) नपुंसक लिङ्ग तथा 'मित्र' (१७।५६) पुल्लिङ्ग हैं। 'मैत्र' या 'मैत्री' के स्थानमें 'मैत्रा' है।

अश्वघोष और कालिदासकी कृतियोंमें कितनी ही सदृश शब्दावलियाँ और समानार्थक पंक्तियाँ पाई जाती हैं। इनमेंसे कुछ कालिदासकी अपनी भी सूझ हो सकती हैं, कुछ जानकर या अनजानमें भी उन्होंने अपनाई होंगी, कुछ काल-क्रमसे लुप्त मध्यवर्ती काव्योंसे ली होंगी। अतः इन समानताओंमेंसे बहुतोंके लिए प्रत्यक्षतः या परोक्षतः कालिदास अपने इस पूर्वजके ऋणी हैं।

अश्वघोष	कालिदास
तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः। द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभे— तान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥ —सौ० ४।७	परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्। अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ —कुमार० ७।६६
तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष। सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥ —सौ० ४।४२	मार्गाचलव्यतिकरा— कुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ। —कुमार० ५।८५
हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव। —बु० च० ८।२५	निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव। —रघु० ३।१५

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च। —बु० च० १०।२३	एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च। —रघु० २।४७
मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं —बु० च० १३।५७	अलं महीपाल तव श्रमेण —रघु० २।३४
प्रमदानामगतिर्न विद्यते —सौ० ८।४४	मनोरथानामगतिर्न विद्यते —कुमार० ५।६४

कालिदासके अतिरिक्त दूसरे अनेक कवियोंने अश्वघोषके पद्य अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये हैं। बौद्ध कवि मातृचेट् और आर्यशूरपर अश्वघोषका प्रभाव लक्षित होता है। बाणने भी उनसे उपमाएँ ली हैं—

निराश्रयस्य...इवाम्बरस्य —सौ० १०।६	वियन्मयीमिव निरवलम्बतया ह०च० ८ (अनुवाद पृष्ठ १५५)।
मलं जले साधुरिवो- जिहिर्षुः। —सौ० १०।३	स्नेहमलमिदममलैः... अम्बुभिः क्षालयितुम्। ह० च० ६ (अनुवाद पृष्ठ ५५)।

अब 'उपनिषद्' और 'सौन्दरनन्द' से मिलते-जुलते कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥

—श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२

प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तम्।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा॥
—सौ० १६।१७

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतन-मलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते। —छान्दोग्य उपनिषद् ६।८।२

सूत्रेण बद्धो हि यथा विहङ्गो व्यावर्तते दूरगतोऽपि भूयः।
अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो गतोऽपि दूरं पुनरेति लोकः॥
सौ० ११।५६

अश्वघोष 'भगवद्गीता' से अभिज्ञ थे और प्रभावित भी। 'भगवद्गीता' की तरह 'सौन्दरनन्द' में भी १८ सर्ग हैं। दोनों ही काव्य गुरु-शिष्य-संवाद रूपमें हैं। जैसे कृष्णने कर्तव्य-पथ से विचलित अर्जुनको कर्तव्य-पथपर स्थिर किया था, उसी प्रकार बुद्धने कुमार्गमें प्रवृत्त नन्दको सन्मार्गपर आरूढ़ किया था। दोनों ही काव्योंमें शिष्य गुरुका भक्त और शरणागत है। 'सौन्दरनन्द' के 'कर्मयोग' (१७।१६), 'अभ्यासयोग' (१६।२०), 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः' (१३।३०) आदि पदोंके लिए अश्वघोष 'भगवद्गीता' के ऋणी हैं। इस काव्यके चौदहवें सर्गका अधिकांश गीताके इन दो श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
—गीता ६।१६-१७

इस सादृश्य और प्रभावका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि अश्वघोषने अपने काव्यमें बौद्ध धर्मके अतिरिक्त किसी दूसरे धर्मका प्रतिपादन किया है। वास्तवमें वे बौद्ध धर्मके सच्चे अनुयायी और प्रचारक थे।

बुद्धकी जीवनी और सिद्धान्तके लिए अश्वघोषके दोनों ही काव्य एक-दूसरेके पूरक हैं। कपिलवस्तुका निर्माण, जिसका उल्लेख भी 'बुद्धचरित' में नहीं है, 'सौन्दरनन्द' के प्रथम सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। उसी प्रकार इस सर्गमें शाक्योंकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है। बुद्धकी आरम्भिक जीवनी, जो 'बुद्धचरित' के प्रथम उन्नीस सर्गोंमें लिखी गई है, 'सौन्दरनन्द' के तीसरे सर्गमें सारांश रूपमें है। 'बुद्धचरित' में नन्दकी दीक्षाका उल्लेखमात्र है, किंतु यह इस पुस्तकका प्रधान विषय है। 'सौन्दरनन्द' में प्रतीत्य-समुत्पाद या कार्य-कारण सिद्धान्तका केवल उल्लेख है, किन्तु 'बुद्धचरित' के चौदहवें सर्गमें इसका विशद विवेचन है। 'सौन्दर-नन्द' के १६।१७ (जो ऊपर उद्धृत है) की दूसरी पंक्तिमें संसारकी उत्पत्तिके मिथ्या कारणोंकी गणना भर की गई है, जब कि 'बुद्ध-चरित' के अठारहवें सर्गमें इनकी विस्तृत व्याख्या है।

'सौन्दरनन्द' की कथाका सारांश 'बुद्धचरित' की भूमिकामें दिया जा चुका है। इस कथाका आधार पालि-साहित्यमें मिलता है। 'उदान' और 'जातक' में तथा 'धम्मपद' के श्लोक १३-१४ की 'अट्ठकथा' (व्याख्या) में नन्दकी कथा कही गई है। किन्तु पालिकी नन्द-कथासे 'सौन्दरनन्द' की कथामें कुछ अन्तर है। शायद इसका वास्तविक आधार कुछ और ही हो, जो अब अप्राप्य है।

नन्द-कथा बुद्धके जीवन-चरितका एक अङ्ग है। 'बुद्धचरित' में बुद्धके जन्मसे परिनिर्वाणतककी सारी घटनाओंका वर्णन किया गया है, जब कि 'सौन्दरनन्द' में इस एक ही कथाको लेकर अठारह सर्गोंका काव्य रचा गया है। अवश्य ही इसमें कविको अपनी काव्य-कला प्रदर्शित करनेका सुअवसर मिला है और इसमें उसे सफलता भी मिली है। काव्यकी दृष्टिसे 'सौन्दरनन्द' 'बुद्धचरित' से सुन्दर है, कविकी प्रौढ़ रचना है और संभवतः पीछे लिखा गया है।

यद्यपि सिद्धार्थ और नन्द मौसेरे और सौतेले भाई थे तथापि आरम्भसे ही दोनोंकी प्रकृति एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न थी। सिद्धार्थ बचपनसे ही जगत् से उद्विग्न और सत्य के जिज्ञासु थे। स्वेच्छासे घर छोड़कर उन्होंने अपने उद्योगसे बुद्धत्व अर्थात् परम ज्ञान प्राप्त किया। दूसरी ओर नन्द शुरूसे ही संसारमें लीन और कामासक्त थे। काम-वासनारूपी कीचड़में फँसे हुए नन्दका उद्धार करनेके लिए बुद्ध एवं आनन्द आदि उनके शिष्योंको जो परिश्रम करना पड़ा उसीका वर्णन 'सौन्दरनन्द' काव्यमें है।

इस ग्रन्थके अन्तिम त्रिभाग (सर्ग १३-१८) में कविने अपनी सुललित वाणीमें बुद्धके धर्मका सुन्दर व्याख्यान किया है, जिसका सारांश नीचे दिया जा रहा है।

दुःख, दुःखका कारण, दुःख-विनाश और दुःखविनाशका मार्ग (=शान्ति-मार्ग)—ये चार आर्य सत्य हैं। जहाँ जन्म और सांसारिक प्रवृत्ति है वहाँ दुःख है। दुःख दो प्रकारका है, शारीरिक और मानसिक। रोग-बुढ़ापा, भूख-प्यास, गर्मी-

सर्दी आदि शारीरिक दुःख है और शोक अरति क्रोध भय आदि मानसिक दुःख। इस द्विविध दुःखका कारण जन्म है और जन्मका कारण तृष्णा आदि दोषोंका समूह। तृष्णा आदिको जड़-मूलसे नष्ट करके दुःख नष्ट किया जा सकता है और दुःखका नाश होनेपर निर्वाण प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होनेपर न जन्म होता है, न बुढ़ापा, न मृत्यु, न व्याधि, न निराशा न अप्रिय-संयोग और न प्रिय-वियोग। यह कल्याणकारी पद नैष्ठिक और अक्षय है। इस अमृत पदको प्राप्त करनेके लिए आठ अङ्गोंवाला अष्टाङ्गिक मार्ग है।

इसके आठ अङ्ग हैं—(१) सम्यक् वाणी (३।३३), (२) सम्यक् कर्म (३।३०-३२), (३) सम्यक् (शुद्ध) आजीविका, (४) सम्यक् दृष्टि (=दुःख आदि चार सत्योंको ठीक ठीक समझना), (५) सम्यक् वितर्क (=अच्छे विचार), (६) सम्यक् प्रयत्न (=बुरे विचारोंको रोकना और अच्छे विचारोंको लाना), (७) सम्यक् स्मृति (=शरीर और मनके कार्योंके प्रति जागरूक रहना), (८) सम्यक् समाधि (=ध्यान, मानसिक एकाग्रता)। प्रथम तीन (कर्म, वाणी और आजीविका) शीलके अन्तर्गत हैं, आगेके तीन (दृष्टि विचार और प्रयत्न[1]) प्रज्ञा के अन्तर्गत तथा अन्तिम दो (स्मृति और समाधि) समाधिके अन्तर्गत। शीलके रहते क्लेशों (=काम, लोभ, मोह आदि दोषों) के अङ्कुर पनप नहीं सकते। समाधि क्लेशोंको रोकती है। प्रज्ञा दोषोंको निःशेष मार डालती है। इस मार्गपर चलनेके लिए धैर्य, सरलता,

---

१. पालि-ग्रन्थोंके अनुसार 'प्रयत्न' समाधिके अन्तर्गत है।

लज्जा, अप्रमाद, एकान्त, अल्पेच्छता, संतोष, अनासक्ति, सांसारिक प्रवृत्तिमें अरुचि और क्षमाकी आवश्यकता होती है (१६।३८)।

संक्षेपमें दुःखसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए सदाचार और आत्यन्तिक मानसिक शुद्धि आवश्यक साधन हैं। इसे ही योगाभ्यास भी कहते हैं। शील, इन्द्रिय-संयम, परिमित भोजन, अल्प-निद्रा, एकान्त-सेवन, अकुशल विचारोंका परित्याग, मानसिक एकाग्रता आदिके लिए जो अनेक उपाय बतलाये गये हैं वे मुक्ति चाहनेवाले योगाभ्यासियोंके लिए तो आवश्यक हैं ही और साथ ही आधुनिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें काम करनेवाले व्यक्तियोंके लिए भी लाभ-दायक हैं। सोलहवें सर्गके अन्तिम छः श्लोकोंमें उद्योगके सम्बन्धमें जो प्रेरक और सुन्दर व्याख्यान दिया गया है उससे संसारका कोई भी व्यक्ति लाभ उठा सकता है।

नन्दने बुद्धके उपदेश सुनकर तदनुसार आचरण किया। क्लेशोंको जीता। ध्यान किया और अर्हत्त्व (=जीवन्मुक्ति) पाया। वे उत्सुकता स्नेह आशा भय शोक मद और रागसे रहित हो गये। उनके लिए न कुछ प्रिय रहा न अप्रिय, न अनुकूल न प्रतिकूल। उन्होंने अत्यन्त आनन्द और परम शान्ति अनुभव की। कृतकृत्य होकर जब शिष्यने गुरुसे प्रत्युपकारका उपाय पूछा तो उन्होंने बताया—

"वही मनुष्य उत्तम है, जो अपने परिश्रमकी चिन्ता न करता हुआ दूसरोंको भी शम-धर्म (=शान्ति) का उपदेश देता है। इसलिए, हे स्थिरात्मन्, अपना कार्य छोड़कर दूसरोंका भी कार्य करो। अज्ञानरूपी अन्धकारसे आवृत प्राणियोंके बीच इस ज्ञान-प्रदीपको धारण करो।"

शुद्धि-पत्र

तारकाङ्कित शुद्धियाँ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

१।३४ घ—निरङ्कुशाः	८।६ घ—दुर्वचं
ॐ१।६१ ग—तमभ्यषिञ्च०	८।२४ घ—०रतिर्वि०
२।५३ अनु—वृत्तोंको	८।२७ ख—०र्चितलिङ्गधारिणः
२।५६ क—यशःकेतुं	६।२५ ख—बिभर्ति
३।१२ ख—प्रवर्तिका	६।३६ घ—वा न वा
४।१४ अनु—मूँछका	१०।२६ ख—कोकनदांश्च
ॐ५।१ ग—महापयोभ्यो	१०।२८ क—०वंदनैर्विहंगा
५।६ क—मत्प्रियार्थं	१०।३६ ग—तनुर्विवेपे
५।३४ घ—महर्षिः	१०।४५ अनु—प्रकारकी
५।५२ अनु—अग्र-भाग	१०।४५ अनु—वाणीरूपी
६।२५ ग—पपात	१०।५८ क—ततो
६।३६ ग—यथाभिमानं	१०।५६ क—परिष्वज्य
६।३६ घ—निलिल्यिरे	११।४ क—कामचर्यासु
६।४७ घ—धर्मं	११।२५ अनु—गर्वित
७।३ ख—संमूर्छित	११।२७ ग—०कार्पण्यया०
७।३ ग—०दीर्घं०	११।२८ अनु—इच्छासे
७।२५ घ—स्त्रीनिर्जितः	११।४८ क—राजर्षि०
७।३५ अनु—(अप्सरा) के	१२।२२ ख—दुर्लभा
७।३८ ख—सूनुर्विबुध०	१२।२६ ख—चिकीर्षितं
ॐ८।१ ग—चक्षुषा	१३।४८ ख—०मिवार्दितः

१४।१३ अनु—खायें, १३

१४।१४ ग—वपुषे

१४।१७ क—तथोपकरणौ:

१५।३६ क—बिभर्ति

❀१५।५७ घ—०मविश्वास्यं

१५।६४ ख—प्रहाणार्थं

१६।२३ ग—बीजप्रकृतिं

१६।३७ अनु—दु:खके

❀१६।५० ख—नैवाप्नुयात्

❀१६।५८ ख—साम्यं

❀१६।६६ अनु—बतलाता

१६।७६ अनु—(विचारों)

१६।८१ क—द्रुत०

१७।४ क—ऋजुं

१७।२७ अनु—आत्म-

❀१७।५५ ग घ—०शुद्धिर्नि०

१७।६१ ग—विभीर्वि०

१७।६६ घ—दुर्भिक्ष

१८।३१ ग—पितृभिर्नि०

पृष्ठ २६६—प्रतिप (शन्तनु

—

सौन्दरनन्द

प्रथम सर्ग

ओं नमो बुद्धाय

गौतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्मभृतां वरः ।
बभूव तपसि श्रान्तः काक्षीवानिव गौतमः ॥१॥

कपिल गौतम नामक मुनि धार्मिकोंमें श्रेष्ठ और काक्षीवान् गौतमके समान महातपस्वी थे ॥१॥

अशिश्रियद्यः सततं दीप्तं काश्यपवत्तपः ।
आशिश्राय च तद्वृद्धौ सिद्धिं काश्यपवत्परां ॥ २ ॥

उन्होंने काश्यपके समान सदा उज्ज्वल तपस्या की और उसको बढ़ाकर काश्यपके समान परम सिद्धि प्राप्त की ॥ २ ॥

हविःषु यश्च स्वात्मार्थं गामधुक्षद्वसिष्ठवत् ।
तपःशिष्टेषु च शिष्येषु गामधुक्षद्वसिष्ठवत् ॥३॥

अपने हविष्यके लिए उन्होंने वसिष्ठके समान गौको दूहा और तपस्वी शिष्योंके बीच वसिष्ठके समान अपनी वाणीको दूहा ॥ ३ ॥

माहात्म्याद्दीर्घतपसो यो द्वितीय इवाभवत् ।
तृतीय इव यश्चाभूत्काव्याङ्गिरसयोर्धिया ॥ ४ ॥

३—पा० 'हविषे' ।

अपने माहात्म्यके कारण वे मानो दूसरे दीर्घतपस थे और बुद्धिमें काव्य व आङ्गिरस के तुल्य (एक तीसरे ही) थे ॥४॥

तस्य विस्तीर्णतपसः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
क्षेत्रं चायतनं चैव तपसामाश्रमोऽभवत् ॥ ५ ॥

दीर्घ काल तक तपस्या करनेके लिए उन्होंने हिमालयके शुभ अञ्चलमें अपना आश्रम बनाया था, जो तपोभूमि और तपोनिकेतन-स्वरूप था ॥ ५ ॥

चारुवीरुत्तरुवनः प्रस्निग्धमृदुशाद्वलः ।
हविर्धूमवितानेन यः सदाभ्र इवाबभौ ॥ ६ ॥

वहाँ सुन्दर लताओं और वृक्षोंका वन था, वहाँकी भूमि चिकने और कोमल तृणोंसे आच्छादित थी। होमके धुएँ के चँदोवेसे वह आश्रम सदा बादलके समान दिखाई पड़ता था ॥६॥

मृदुभिः सैकतैः स्निग्धैः केसरास्तरपाण्डुभिः ।
भूमिभागैरसंकीर्णैः साङ्गराग इवाभवत् ॥ ७ ॥

कोमल सिकतामय चिकने पवित्र तथा केसरोंकी शय्यासे पीले स्थलोंसे मानो उस आश्रमका अङ्गराग हुआ था ॥ ७ ॥

शुचिभिस्तीर्थसंख्यातैः पावनैर्भावनैरपि ।
बन्धुमानिव यस्तस्थौ सरोभिः ससरोरुहैः ॥ ८ ॥

निर्मल तीर्थस्वरूप पवित्र एवं सुन्दर कमल-सरोवरोंसे वह (आश्रम) जान पड़ता था जैसे (सद्-) बन्धुओंसे युक्त हो ॥८॥

पर्याप्तफलपुष्पाभिः सर्वतो वनराजिभिः ।
शुशुभे ववृधे चैव नरः साधनवानिव ॥ ९ ॥

चारों ओर प्रचुर फल-फूलोंसे भरे वनोंसे उस (आश्रम) की, साधनवान् मनुष्यकी तरह, शोभा और वृद्धि हुई ॥ ९ ॥

नीवारफलसंतुष्टैः स्वस्थैः शान्तैरनुत्सुकैः।
आकीर्णोऽपि तपोभृद्भिः शून्यशून्य इवाभवत् ॥१०॥

जंगली चावल और फलोंसे सन्तुष्ट, स्वस्थ, शान्त एवं निरभिलाष तपस्वियोंसे भरा होने पर भी वह (आश्रम) सूना-सा था ॥१०॥

अग्नीनां हूयमानानां शिखिनां कूजतामपि।
तीर्थानां चाभिषेकेषु शुश्रुवे यत्र निस्वनः ॥११॥

केवल अग्निमें हवन करनेका, मोरोंके बोलनेका और तीर्थोंमें स्नान करनेका शब्द वहाँ सुनाई पड़ता था ॥११॥

विरेजुर्हरिणा यत्र सुप्ता मेध्यासु वेदिषु।
सलाजैर्माधवीपुष्पैरुपहाराः कृता इव ॥१२॥

वहाँ पवित्र वेदियों पर सोये हुए हरिण ऐसे शोभित हुए जैसे लावे और माधवी फूलोंके साथ वे (हरिण) उपहार चढ़ाये गये हों ॥१२॥

अपि क्षुद्रमृगा यत्र शान्ताश्चेरुः समं मृगैः।
शरण्येभ्यस्तपस्विभ्यो विनयं शिक्षिता इव ॥१३॥

वहाँ हिंस्र पशु मृगोंके साथ शान्तिपूर्वक विचरण करते थे, मानो उन्होंने शरण देनेवाले तपस्वियोंसे विनयकी शिक्षा पाई हो ॥१३॥

संदिग्धेऽप्यपुनर्भावे विरुद्धेष्वागमेष्वपि।
प्रत्यक्षिण इवाकुर्वंस्तपो यत्र तपोधनाः ॥१४॥

यद्यपि उनकी मोक्ष-प्राप्ति संदिग्ध थी और शास्त्र परस्पर-विरोधी थे, तो भी उन तपस्वियोंने वहाँ तप किया, जैसे उन्हें अपने तपके फलका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ हो ॥१४॥

यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित्कैश्चिन्न मीयते।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते ॥१५॥

वहाँ कुछ लोगों ने ब्रह्म-चिन्तन किया, किसीने हिंसा न की, समयपर सोम-रस मापा गया और किसीकी भी अकाल-मृत्यु न हुई ॥१५॥

निरपेक्षाः शरीरेषु धर्मे यत्र स्वबुद्धयः।
संहृष्टा इव यत्नेन तापसास्तेपिरे तपः ॥१६॥

वहाँ धर्मके विषयमें अपनेही मतका अनुसरण करते हुए उन्होंने शरीरकी पर्वाह न की; अपने प्रयत्नसे मानो अत्यन्त प्रसन्न होकर उन तापसोंने तपस्या की ॥१६॥

श्राम्यन्तो मुनयो यत्र स्वर्गायोद्युक्तचेतसः।
तपोरागेण धर्मस्य विलोपमिव चक्रिरे ॥१७॥

वहाँ स्वर्गकी प्राप्तिमें चित्त लगाकर मुनियोंने श्रम किया; तपस्याकी आसक्तिसे उन्होंने मानो धर्मका लोप किया ॥१७॥

अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमं।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥१८॥

तब तेजस्वियोंके निवास-स्थान और तपस्याके क्षेत्र उस आश्रम में कुछ इक्ष्वाकु-वंशी राजकुमार रहनेकी इच्छासे गये ॥१८॥

सुवर्णस्तम्भवर्ष्माणः सिंहोरस्का महाभुजाः।
पात्रं शब्दस्य महतः श्रियां च विनयस्य च ॥१९॥

उनके शरीर सुवर्ण-स्तम्भ के समान (लम्बे) थे, उनकी छाती सिंहकी-सी (चौड़ी) थी, भुजाएँ बड़ी बड़ी थीं। वे महान् ख्याति श्री और विनयके पात्र थे ॥१९॥

अर्हरूपा ह्यनर्हस्य महात्मानश्चलात्मनः ।
प्राज्ञाः प्रज्ञाविमुक्तस्य भ्रातृव्यस्य यवीयसः ॥२०॥

वे योग्य थे और उनका छोटा भाई अयोग्य, वे महात्मा थे और वह अस्थिरात्मा, वे पण्डित थे और वह मूर्ख ॥२०॥

मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं विषेहिरे ।
रक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनं ॥२१॥

उसकी माताके शुल्कमें प्राप्त राज्यको उन्होंने बलात् ग्रहण नहीं किया; उन्होंने पिताके सत्यकी रक्षा की और इसीलिए वनका आश्रय लिया ॥२१॥

तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥२२॥

उनके उपाध्याय मुनि कपिल गौतम हुए; अतः वे कौत्स, गुरुके गोत्रसे गौतम कहलाये ॥२२॥

एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।
राम एवाभवद्गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥२३॥

जैसे अलग अलग गुरुके शिष्य होनेसे, एकही पिताके पुत्र दो भाई, राम तो गार्ग्य हुआ और वासुभद्र गौतम ॥२३॥

शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥२४॥

उन्होंने जिस स्थानपर निवास किया वह शाक-वृक्षों से ढका था, इसलिए वे इक्ष्वाकुवंशी पृथ्वीपर शाक्य कहलाये ॥२४॥

२०—'भ्रातृव्य' का अर्थ है भतीजा, किंतु यहाँ इस शब्द से सौतेले भाईका तात्पर्य है ।

स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।
मुनिरूर्ध्वं कुमारस्य सगरस्येव भार्गवः ॥२५॥

उन गौतम मुनिने अपने वंशके अनुरूप उनके संस्कार किये, जैसे बादको भार्गव मुनिने कुमार सगरके, ॥२५॥

कण्वः शाकुन्तलस्येव भरतस्य तरस्विनः ।
वाल्मीकिरिव धीमांश्च धीमतोर्मैथिलेययोः ॥२६॥

कण्वने शकुन्तलाके वीर पुत्र भरतके तथा धीमान् (मेधावी) बाल्मीकिने मैथिलीके धीमान् पुत्रोंके संस्कार किये ॥२६॥

तद्वनं मुनिना तेन तैश्च क्षत्रियपुंगवैः ।
शान्तां गुप्तां च युगपद्ब्रह्मक्षत्रश्रियं दधे ॥२७॥

उस वनने उन मुनि तथा उन श्रेष्ठ क्षत्रियोंके कारण एकही साथ (क्रमशः) शान्तिमयी ब्राह्म श्री तथा रक्षामयी क्षात्र श्री धारण की ॥२७॥

अथोदकलशं गृह्य तेषां वृद्धिचिकीर्षया ।
मुनिः स वियदुत्पत्य तानुवाच नृपात्मजान् ॥२८॥

एक दिन उनकी समृद्धि करनेकी इच्छासे जलका घड़ा लेकर मुनि आकाशमें उड़ गये और उन राज-पुत्रों से कहाः—॥२८॥

या पतेत्कलशादस्मादक्षय्यसलिलान्महीं ।
धारा तामनतिक्रम्य मामन्वेत यथाक्रमं ॥२९॥

"अक्षय्य जलके इस कलशसे जो जल-धारा पृथ्वीपर गिरे उसका अतिक्रमण न करके क्रमसे मेरा अनुसरण करो।" ॥२९॥

२६—'वेगिशूरौ तरस्विनौ'—अमर ।

२७—मुनियों और ब्रह्मणों की शोभा है शान्ति तथा क्षत्रियों की शोभा है रक्षा ।

ततः परममित्युक्त्वा शिरोभिः प्रणिपत्य च।
रथानारुरुहुः सर्वे शीघ्रवाहानलंकृतान् ॥३०॥

तब "बहुत अच्छा" कहकर और शिर नवाकर प्रणाम कर वे सब अपने रथोंपर आरूढ़ हुए जो अलंकृत थे और जिनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए थे ॥३०॥

ततः स तैरनुगतः स्यन्दनस्थैर्नभोगतः।
तदाश्रममहीप्रान्तं परिचिक्षेप वारिणा ॥३१॥

तब रथोंपर आरूढ़ उन लोगोंसे अनुसृत होकर आकाशमें चलते हुए उन मुनिने उस आश्रमकी भूमिके चारों ओर जलकी धारा गिराई ॥३१॥

अष्टापदमिवालिख्य निमित्तैः सुरभीकृतं।
तानुवाच मुनिः स्थित्वा भूमिपालसुतानिदं ॥३२॥

और सतरंजकी तख्तीकी तरह ढाँचा बनाया, जो सीमाके चिह्नोंसे सुन्दर किया गया। तब मुनिने खड़ा होकर उन राजपुत्रों से कहा :—॥३२॥

अस्मिन्धारापरिक्षिप्ते नेमिचिह्नितलक्षणे।
निर्मिमीध्वं पुरं यूयं मयि याते त्रिविष्टपं ३३॥

"जलकी धारासे घिरी हुई तथा पहियोंके चिह्नसे चिह्नित इस भूमिपर, मेरे स्वर्गीय होने पर, तुम लोग एक नगरका निर्माण करो" ॥३३॥

ततः कदाचित्ते वीरास्तस्मिन्प्रतिगते मुनौ।
बभ्रमुर्यौवनोद्दामा गजा इव निरङ्कुशाः ॥३४॥

तब कालक्रमसे उन मुनिके स्वर्गीय होनेपर वे वीर जवानीसे उच्छृङ्खल होकर निरंकुश हाथियोंकी तरह विचरण करने लगे ॥३४॥

बद्धगोधाङ्गुलीत्राणा हस्तविष्ठितकार्मुकाः ।
शराध्मातमहातूणा व्यायताबद्धवाससः ॥३५॥

चमड़ेके अङ्गुलि-त्राण (दस्ताने) पहनकर, हाथोंमें धनुष धारण कर, तीरोंसे भरे बड़े बड़े तरकस लेकर और अपने लम्बे वस्त्रोंको दृढ़तापूर्वक बाँधकर, ॥३५॥

जिज्ञासमाना नागेषु कौशलं श्वापदेषु च ।
अनुचक्रुर्वनस्थस्य दौष्मन्तेर्देवकर्मणः ॥३६॥

हाथियों और हिंस्र पशुओंपर अपने कौशलकी परीक्षा करते हुए उन्होंने वनवासी दौष्यन्ति (दुष्यन्त-पुत्र) का, जिनके कर्म देवता के-से थे, अनुकरण किया ॥३६॥

तान्दृष्ट्वा प्रकृतिं यातान्वृद्धान्व्याघ्रशिशूनिव ।
तापसास्तद्वनं हित्वा हिमवन्तं सिषेविरे ॥३७॥

बाघके बच्चोंकी तरह जवान होकर वे अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ गये हैं, यह देखकर तापसगण उस वनको छोड़कर हिमालयपर चले गये ॥३७॥

ततस्तदाश्रमस्थानं शून्यं तैः शून्यचेतसः ।
पश्यन्तो मन्युना तप्ता व्याला इव निशश्वसुः ॥३८॥

तब उस आश्रमको उन तापसोंसे सूना देखकर वे उदास हो गये और क्रोधसे जलते हुए साँपोंकी तरह लम्बी साँसें लेने लगे ॥३८॥

अथ ते पुण्यकर्माणः प्रत्युपस्थितवृद्धयः ।
तत्र तज्ज्ञैरुपाख्यातानवापुर्महतो निधीन् ॥३९॥

३५—पा० 'हस्ताधिष्ठित' 'हस्तविष्टित' ।

तब उनके पुण्य-कर्मों (के प्रभाव) से उनकी समृद्धि उपस्थित हुई और उस विद्याके पण्डितों द्वारा बताये जाने पर उन्होंने बड़ी-बड़ी निधियाँ पाईं ॥३९॥

अलं धर्मार्थकामानां निखिलानामवाप्तये ।
निधयो नैकविधयो भूरयस्ते गतारयः ॥४०॥

वे निधियाँ अनेक प्रकारकी, प्रचुर, शत्रुओं (के भय) से मुक्त तथा समस्त धर्म अर्थ व कामकी प्राप्तिके लिए पर्याप्त थीं ॥४०॥

ततस्तत्प्रतिलम्भाच्च परिणामाच्च कर्मणः ।
तस्मिन्वास्तुनि वास्तुज्ञाः पुरं श्रीमन्न्यवेशयन् ॥४१॥

तब उन निधियोंकी प्राप्तिसे तथा अपने (पुण्य) कर्मोंका परिपाक होनेसे वास्तुविद्याके पण्डितोंने उस स्थान पर एक सुन्दर नगर बनवाया ॥४१॥

सरिद्भिस्तीर्णपरिखं स्पष्टाञ्चितमहापथं ।
शैलकल्पमहावप्रं गिरिव्रजमिवापरं ॥४२॥

उस नगरकी परिखा नदीकी तरह चौड़ी थी, राज-पथ भव्य और सीधा था, प्राचीर पहाड़ोंकी तरह विशाल थे, जैसे वह दूसरा गिरिव्रज (=राजगृह) ही हो ॥४२॥

पाण्डुराट्टालसुमुखं सुविभक्तान्तरापणं ।
हर्म्यमालापरिक्षिप्तं कुक्षिं हिमगिरेरिव ॥४३॥

सफेद अट्टालिकाओंसे उसका मुख (=सामनेका हिस्सा) सुन्दर लगता था, उसके भीतरी बाजार अच्छी तरह विभाजित थे,

---

४२—परिखा=नगर के चारों ओर खोदी जानेवाली खाई ।

वह महलोंकी मालासे घिरा हुआ था, जान पड़ता था जैसे वह नगर हिमालयकी कुक्षि हो ॥४३॥

वेदवेदाङ्गविदुषस्तस्थुषः षट्सु कर्मसु ।
शान्तये वृद्धये चैव यत्र विप्रानजीजपन् ॥४४॥

वेद-वेदाङ्गोंके जाननेवाले तथा छः कर्मोंमें रत रहनेवाले ब्राह्मणोंसे उन्होंने अपनी शान्ति और वृद्धिके लिए वहाँ जप करवाया ॥४४॥

तद्भूमेरभियोक्तॄणां प्रयुक्तान्विनिवृत्तये ।
यत्र स्वेन प्रभावेन भृत्यदण्डानजीजपन् ॥४५॥

उस भूमिपर आक्रमण करनेवालोंको हटानेके लिए जो सैनिक नियुक्त थे उनके द्वारा उन्होंने अपने प्रभावसे विजय प्राप्त करवाई ॥४५॥

चारित्रधनसंपन्नान् सलज्जान्दीर्घदर्शिनः ।
अर्हतोऽतिष्ठिपन्यत्र शूरान्दक्षान् कुटुम्बिनः ॥४६॥

सदाचाररूपी धनसे सम्पन्न, लज्जावान्, दीर्घदर्शी, योग्य, शूर और दक्ष कुटुम्बियोंको उन्होंने वहाँ बसाया ॥४६॥

व्यस्तैस्तैस्तैर्गुणैर्युक्तान्मतिवाग्विक्रमादिभिः ।
कर्मसु प्रतिरूपेषु सचिवांस्तान्न्ययूयुजन् ॥४७॥

बुद्धि वाणी और पराक्रम आदि भिन्न-भिन्न गुणोंसे युक्त मंत्रियोंको उनके अनुरूप कर्मोंमें उन्होंने नियुक्त किया ॥४७॥

वसुमद्भिरविभ्रान्तैरलंविद्यैरविस्मितैः ।
यद्बभासे नरैः कीर्णं मन्दरः किन्नरैरिव ॥४८॥

धनी शान्त विद्वान् और अनुद्धत मनुष्योंसे भरा हुआ वह नगर वैसे ही शोभित हुआ जैसे किन्नरोंसे मन्दराचल ॥ ४८ ॥

४३—कुक्षि = उदर, गुफा, उपत्यका ।

यत्र ते हृष्टमनसः पौरप्रीतिचिकीर्षया।
श्रीमन्त्युद्यानसंज्ञानि यशोधामान्यचीकरन्॥४९॥

वहाँ पुर-वासियोंको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उन्होंने प्रसन्न-चित्त होकर उद्यान नामक यशके सुन्दर स्थान बनवाये॥४९॥

शिवाः पुष्करिणीश्चैव परमाद्र्यगुणाम्भसः।
नाज्ञया चेतनोत्कर्षाद्दिक्षु सर्वास्वचीखनन्॥५०॥

किसीकी आज्ञासे नहीं, बल्कि अपनी सद्बुद्धिसे, उन्होंने सब दिशाओंमें सुन्दर पोखर खनवाये, जो उत्तम गुणके जलसे भरे हुए थे॥ ५०॥

मनोज्ञाः श्रीमतीः प्रष्ठीः पथिषूपवनेषु च।
सभाः कूपवतीश्चैव समन्तात्प्रत्यतिष्ठिपन्॥५१॥

मार्गों और उपवनोंमें चारों ओर मनोरम सुन्दर और उत्तम धर्मशालाएँ बनवाईं, जिनके साथ कूप भी थे॥५१॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णमसंकीर्णमनाकुलं।
अनिगूढार्थिविभवं निगूढज्ञानपौरुषं॥५२॥

हाथियों घोड़ों और रथोंसे भरा होनेपर भी वह नगर अपवित्र या अस्तव्यस्त नहीं हुआ। वहाँ याचकोंसे किसीने धन नहीं छिपाया, किंतु लोगोंने अपने ज्ञान और पौरुषको (अवश्य) छिपाया॥५२॥

संनिधानमिवार्थानामाधानमिव तेजसां।
निकेतमिव विद्यानां संकेतमिव संपदां॥५३॥

वह नगर धनका निधान-सा, तेजका आधान-सा, विद्याका मन्दिर-सा और सम्पत्तिका गुप्त स्थान-सा था॥५३॥

वासवृक्षं गुणवतामाश्रयं शरणैषिणां।
आनर्तं कृतशास्त्राणामालानं बाहुशालिनां ॥५४॥

वह गुणियोंका निवास-वृक्ष, शरण चाहनेवालोंका आश्रय, शास्त्र जाननेवालोंका घर और बाहुशाली वीरोंका स्तम्भ था ॥५४॥

समाजैरुत्सवैर्दायैः क्रियाविधिभिरेव च।
अलंचक्रुरलंवीर्यास्ते जगद्धाम तत्पुरं ॥५५॥

उन वीरोंने सभाओं उत्सवों दानों और धार्मिक क्रियाओंसे संसारके उस स्थान—उस नगर—को अलंकृत किया ॥५५॥

यस्मादन्यायतस्ते च कंचिन्नाचीकरन्करं।
तस्मादल्पेन कालेन तत्तदापूपुरन्पुरं ॥५६॥

उन्होंने अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं लगाया, इस लिए अल्प-कालमें ही उन्होंने उस नगरको (धन-जन से) भर दिया ॥५६॥

कपिलस्य च तस्यर्षेस्तस्मिन्नाश्रमवास्तुनि।
यस्मात्ते तत्पुरं चक्रुस्तस्मात्कपिलवास्तु तत् ॥५७॥

उन कपिल ऋषिके उस आश्रम-स्थानपर उन्होंने वह नगर बनाया, इसलिए वह कपिलवस्तु कहलाया ॥५७॥

५४—आनर्त = नाट्यशाला; शास्त्रसे नाट्यशास्त्र का भी बोध हो सकता है। आलान = हाथी बाँधने का स्तम्भ। इस श्लोकके प्रत्येक पादमें श्लेष है।

५५—समाज = दल बाँधकर नृत्यके साथ देव-मन्दिरमें सरस्वती आदि देवताकी की जानेवाली पाक्षिक या मासिक पूजा—का० सू० १. ४. २७। आजकल हरिकीर्तन करनेवाले दलोंको समाज कहते हैं।

ककन्दस्य मकन्दस्य कुशाम्बस्येव चाश्रमे।
पुर्यो यथा हि श्रूयन्ते तथैव कपिलस्य तत् ॥५८॥

जैसे ककन्द मकन्द और कुशाम्बके आश्रममें बनाये गये नगर उन (ऋषियों) के नामसे विख्यात हैं, वैसे ही कपिल नामसे वह नगर प्रसिद्ध हुआ ॥५८॥

आपुः पुरं तत्पुरुहूतकल्पास्ते तेजसार्येण न विस्मयेन।
आपुर्यशोगन्धमतश्च शश्वत्सुता ययातेरिव कीर्तिमन्तः ॥५९॥

इन्द्र-तुल्य उन वीरोंने अपने आर्य तेजसे, न कि औद्धत्यसे, उस नगरकी रक्षा की, इसलिए उन्होंने शाश्वत यशरूपी सुगन्ध प्राप्त की, जैसे कि ययातिके विख्यात पुत्रोंने प्राप्त की थी ॥५९॥

तन्नाथवृत्तैरपि राजपुत्रैरराजकं नैव रराज राष्ट्रं।
तारासहस्रैरपि दीप्यमानैरनुत्थिते चन्द्र इवान्तरीक्षं ॥६०॥

उन राज-पुत्रों से, यद्यपि उनके आचरण अधिपति (स्वामी) के से थे, वह राष्ट्र एक राजाके बिना शोभित नहीं हुआ, जैसे हजारों ताराओंके चमकते रहने पर भी चन्द्रोदयके अभावमें आकाश की शोभा नहीं होती ॥६०॥

यो ज्यायानथ वयसा गुणैश्च तेषां
भ्रातॄणां वृषभ इवौजसा वृषाणां।
ते तत्र प्रियगुरवस्तमभ्यषिञ्चन्नादित्या
दशशतलोचनं दिवीव ॥६१॥

उन भाइयोंके बीच उम्र और गुणोंमें जो बड़ा था, जैसे बैलोंमें शक्तिशाली बैल बड़ा समझा जाता है, उसे उन्होंने, जिन्हें अपना बड़ा भाई प्यारा था, (राजाके पद पर) अभिषिक्त किया, जैसे स्वर्ग में आदित्योंने इन्द्रका अभिषेक किया था ॥६१॥

आचारवान्विनयवान्नयवान्क्रियावान्
धर्माय नेन्द्रियसुखाय धृतातपत्रः ।
तद्भ्रातृभिः परिवृतः स जुगोप राष्ट्रं
संक्रन्दनो दिवमिवानुसृतो मरुद्भिः ॥६२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये कपिलवास्तुवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

उस सदाचारी विनयी नीतिमान् और क्रियावान्ने, धर्मके लिए न कि इन्द्रिय-सुखकेलिए, राज-छत्र धारण किया। उन भाइयोंके साथ उसने राष्ट्रकी वैसे ही रक्षाकी जैसे मरुतोंके साथ इन्द्र स्वर्गकी रक्षा करता है ॥६२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें 'कपिलवास्तु-वर्णन' नामक
प्रथम सर्ग समाप्त ।

द्वितीय सर्ग

राजा शुद्धोदन

ततः कदाचित्कालेन तदवाप कुलक्रमात्।
राजा शुद्धोदनो नाम शुद्धकर्मा जितेन्द्रियः ॥१॥

तब एक बार समय बीतनेपर वंश-परम्परासे शुद्धोदन नामक राजा, जिसके कर्म शुद्ध (पवित्र) थे और जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया था, उस राज्यका उत्तराधिकारी हुआ ॥१॥

यः ससञ्जे न कामेषु श्रीप्राप्तौ न विसिस्मिये।
नावमेने परानृद्‌ध्या परेभ्यो नापि विव्यथे ॥२॥

वह विषयमें आसक्त नहीं हुआ, लक्ष्मी प्राप्त कर वह उद्धत नहीं हुआ, अपनी समृद्धिके कारण दूसरोंका अपमान नहीं किया, और अपने शत्रुओंसे व्यथित नहीं हुआ ॥२॥

बलीयान्सत्त्वसंपन्नः श्रुतवान् बुद्धिमानपि।
विक्रान्तो नयवांश्चैव धीरः सुमुख एव च ॥३॥

वह बलवान्, सात्त्विक, विद्वान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी, नीतिमान्, धीर और सुन्दर था ॥३॥

वपुष्मांश्च न च स्तब्धो दक्षिणो न च नार्जवः।
तेजस्वी न च न क्षान्तः कर्ता च न च विस्मितः ॥४॥

वह था रूपवान् किन्तु अभिमानी नहीं, अनुकूल किन्तु कुटिल नहीं, तेजस्वी किन्तु असहनशील नहीं, कार्य करनेवाला किन्तु उद्धत नहीं ॥४॥

आक्षिप्तः शत्रुभिः संख्ये सुहृद्भिश्च व्यपाश्रितः ।
अभवद्यो न विमुखस्तेजसा दित्सयैव च ॥५॥

युद्धमें शत्रुओं द्वारा ललकारा जानेपर वह तेज (पराक्रम) से विमुख नहीं हुआ और मित्रों द्वारा आश्रय लिया जानेपर उदारतासे पराङ्मुख नहीं हुआ ॥५॥

यः पूर्वैं राजभिर्यातां यियासुर्धर्मपद्धतिं ।
राज्यं दीक्षामिव वहन्वृत्तेनान्वगमत्पितॄन् ॥६॥

पूर्वके राजा लोग जिस धर्म-मार्गपर चले थे उसीपर चलनेकी इच्छासे, राज्यको दीक्षा (व्रत) की तरह वहन करते हुए उसने अपने पूर्वजोंके आचरण का अनुकरण किया ॥६॥

यस्य सुव्यवहाराच्च रक्षणाच्च सुखं प्रजाः ।
शिश्यिरे विगतोद्वेगाः पितुरङ्कगता इव ॥७॥

उसके सुशासन और रक्षा-प्रबन्धके कारण प्रजा निर्भय होकर सुखकी नींद लेती थी, जैसे बच्चे अपने पिताकी गोदमें (सुखसे सोते हैं) ॥७॥

कृतशास्त्रः कृतास्त्रो वा जातो वा विपुले कुले ।
अकृतार्थो न ददृशे यस्य दर्शनमेयिवान् ॥८॥

जिसने शास्त्रका अध्ययन किया हो या जिसने अस्त्रका अभ्यास किया हो या जिसने ऊँचे कुलमें जन्म लिया हो, ऐसा कोई आदमी उसका दर्शन पाकर अकृतार्थ (असफल-मनोरथ) नहीं हुआ ॥८॥

७—सुव्यवहार = सुन्दर व्यवहार, उत्तम विवाद-निर्णय (जिससे प्रजाको पीड़ा नहीं होती थी)।

हितं विप्रियमप्युक्तो यः शुश्राव न चुक्षुभे।
दुष्कृतं बह्वपि त्यक्त्वा सस्मार कृतमण्वपि ॥९॥

हितकारी वचन अप्रिय होनेपरभी उसने ध्यानपूर्वक सुना और क्षुब्ध नहीं हुआ। अनेक अपराधोंको भूलकर उसने अणुमात्र उपकारको भी याद रखा ॥९॥

प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान्परिजग्राह निजग्राहास्थितान्पथि ॥१०॥

उसने शरणागतोंके ऊपर अनुग्रह किया, अपने वंशके शत्रुओंके साथ युद्ध किया, आपत्ति-ग्रस्तोंको अपनाया और सन्मार्गपर नहीं चलनेवालोंका निग्रह किया ॥१०॥

प्रायेण विषये यस्य तच्छीलमनुवर्तिनः।
अर्जयन्तो ददृशिरे धनानीव गुणानपि ॥११॥

उसके राज्यमें प्राय: उसके शीलका अनुकरण करनेवाले लोग धनकी तरह सद्गुण अर्जन करते हुए दिखाई पड़े ॥११॥

अध्यैष्ट यः परं ब्रह्म न व्यैष्ट सततं धृतेः।
दानान्यदित पात्रेभ्यः पापं नाकृत किंचन ॥१२॥

उसने परम ब्रह्म (वेद) का अध्ययन किया, वह धैर्यसे कभी विचलित नहीं हुआ, उसने सत्पात्रोंको दान दिया, और थोड़ा-सा भी पाप नहीं किया ॥१२॥

धृत्यावाक्षीत्प्रतिज्ञां स सद्वाजीवोद्यतां धुरं।
न ह्यवाञ्छीच्च्युतः सत्यान्मुहूर्तमपि जीवितं ॥१३॥

उसने धैर्यपूर्वक प्रतिज्ञाकी रक्षा की; जैसे अच्छा घोड़ा उठाये हुए जुएको प्रसन्नतापूर्वक वहन करता है; क्योंकि सत्यसे गिरकर क्षणभरके लिए भी जीवन धारण करना उसे अभीष्ट नहीं था ॥१३॥

विदुषः पर्युपासिष्ट व्यकाशिष्टात्मवत्तया ।
व्यरोचिष्ट च शिष्टेभ्यो मासीषे चन्द्रमा इव ॥१४॥

उसने विद्वानोंकी उपासना की, वह आत्म-संयमसे प्रकाशित हुआ, वह शिष्ट जनोंके लिए वैसे ही प्रिय था, जैसे आश्विन मासमें चन्द्रमा ॥१४॥

अवेदीद्बुद्धिशास्त्राभ्यामिह चामुत्र च क्षमं ।
अरक्षीद्धैर्यवीर्याभ्यामिन्द्रियाण्यपि च प्रजाः ॥१५॥

उसने बुद्धिद्वारा इस लोकमें अपने हितको प्राप्त किया और शास्त्रद्वारा परलोकके योग्य (क्रिया और वस्तु) को जाना। उसने धैर्यद्वारा इन्द्रियोंकी रक्षा की और वीर्यद्वारा प्रजाओंकी ॥१५॥

अहार्षीद्दुःखमार्तानां द्विषतां चोर्जितं यशः ।
अचैषीच्च नयैर्भूमिं भूयसा यशसैव च ॥१६॥

उसने दुःखियोंका दुःख दूर किया और शत्रुओंका शक्तिशाली यश हरण किया। उसने नीति द्वारा पृथ्वीको जीता और अपने विशाल यशसे इसे व्याप्त किया ॥१६॥

अप्यासीद्दुःखितान्पश्यन्प्रकृत्या करुणात्मकः ।
नाधौषीच्च यशो लोभादन्यायाधिगतैर्धनैः ॥१७॥

दुःखियोंको देखकर उसकी करुणा उमड़ पड़ती थी और अन्याय-पूर्वक धन उपार्जन कर उसने अपने यशको नहीं कँपाया ॥१७॥

सौहार्ददृढभक्तित्वान्मैत्रेषु विगुणेष्वपि ।
नादिदासीददित्सीत्तु सौमुख्यात्स्वं स्वमर्थवत् ॥१८॥

मित्रतामें दृढ़ भक्ति होनेके कारण वह मित्र-पक्षके लोगोंसे, चाहे वे गुण-रहित ही क्यों न हों, कुछ लेता नहीं था, बल्कि अपनी

दयालुता (सौजन्य) के कारण उनके प्रयोजनके अनुसार उन्हें कुछ देता ही था ॥१८॥

अनिवेद्याग्रमर्हद्भ्यो नालिक्षत्किंचिदप्लुतः ।
गामधर्मेण नाधुक्षत्क्षीरतर्षेण गामिव ॥१६॥

जब तक वह स्नान नहीं करता था और जब तक पूज्य व्यक्तियों को अग्रभाग नहीं निवेदन करता था, तब तक (खाने पीनेकेलिए) कुछ छूता तक नहीं था। उसने अधर्मपूर्वक पृथ्वीको, जैसे दूधकी प्याससे गायको, कभी नहीं दूहा ॥१६॥

नासृक्षद्बलिमप्राप्तं नारुक्षन्मानमैश्वरं ।
आगमैर्बुद्धिमाधिक्षद्धर्माय न तु कीर्तये ॥२०॥

उसने अनुचित कर नहीं लगाया, अपने ऐश्वर्यका अभिमान नहीं किया। शास्त्रोंका अभ्यास करके उसने अपनी बुद्धिको, धर्मकेलिए न कि कीर्तिकेलिए, बढ़ाया ॥२०॥

क्लेशार्हानपि कांश्चित्तु नाक्लिष्ट क्लिष्टकर्मणः ।
आर्यभावाच्च नाघुक्षद्द्विषतोऽपि सतो गुणान् ॥२१॥

जो कुछ लोग सताये जाने योग्य थे उन पापकर्मियोंको भी उसने क्लेश नहीं दिया और अपने सौजन्यके कारण उसने शत्रुके भी वास्तविक गुणों को नहीं छिपाया ॥२१॥

आकृक्षद्वपुषा दृष्टीः प्रजानां चन्द्रमा इव ।
परस्वं भुवि नामृक्षन्महाविषमिवोरगं ॥२२॥

१८—पाठ और अर्थ दोनों ही अनिश्चित है।

२० (क)–He scattered the Bali oblation according to rule–उसने नियमानुसार बलि (पूजोपहार) बिखेरे–जौन्स्टन।

वह अपने रूपसे, चन्द्रमाकी तरह, प्रजाओंकी दृष्टिको आकृष्ट किया करता था; पृथ्वीपर दूसरेकी सम्पत्तिको छूता नहीं था, जैसे कोई बड़ा विषैला साँप हो ।।२२।।

नाक्रुक्षद्विषये तस्य कश्चित्कैश्चित्क्वचित्क्षतः ।
अदिक्षत्तस्य हस्तस्थमार्तेभ्यो ह्यभयं धनुः ।।२३।।

उसके राज्यमें कहीं कोई किसीसे न क्षति-ग्रस्त होता था, न रोता था; क्योंकि उस (राजा) के हाथमें रहनेवाला धनुष आर्त जनोंको अभय दान करता था ।।२३।।

कृतागसोऽपि प्रणतान्प्रागेव प्रियकारिणः ।
अदर्शत्स्निग्धया दृष्ट्या श्लक्ष्णेन वचसासिचत् ।।२४।।

वह शरणमें आये हुए अपराधियोंको भी, उपकार करनेवालोंको तो पहले ही, स्नेह-भरी दृष्टिसे देखता था और कोमल वाणीसे नहलाता था ।।२४।।

बह्वीरध्यगमद्विद्या विषयेष्वकुतूहलः ।
स्थितः कार्तयुगे धर्मे धर्मात्कृच्छ्रेऽपि नास्रसत् ।।२५।।

विषयोंसे उदासीन रहकर उसने अनेक विद्याएँ प्राप्त कीं और कृतयुगके धर्ममें रहता हुआ वह, सङ्कटमें भी धर्मसे च्युत नहीं हुआ ।।२५।।

अवर्धिष्ट गुणैः शश्वदवृधन्मित्रसंपदा ।
अवर्तिष्ट च वृद्धेषु नावृतद्गर्हिते पथि ।।२६।।

उसके गुणोंकी सर्वदा वृद्धि हुई, वह अपने मित्रोंकी समृद्धिमें प्रसन्न हुआ, उसने बूढ़ोंपर भरोसा किया, वह निन्दित मार्गपर नहीं चला ।।२६।।

शरैरशीशमच्छत्रून् गुणैर्बन्धूनरीरमत् ।
रन्ध्रैर्नाचूचुदद्भृत्यान् करैर्नापीपिडत्प्रजाः ॥२७॥

उसने तीरोंसे शत्रुओंको शान्त किया, अपने गुणोंसे बन्धुओंको प्रसन्न किया, नौकरोंको उनकी गलतियोंकेलिए नहीं फटकारा और कर लगाकर प्रजाओंको पीड़ित नहीं किया ॥२७॥

रक्षणाच्चैव शौर्याच्च निखिलां गामवीवपत् ।
स्पष्टया दण्डनीत्या च रात्रिसत्रानवीवपत् ॥२८॥

उसकी शूरतासे सारी पृथ्वी जीती गई और उसकी सुरक्षामें सारी पृथ्वी बोई गई। स्पष्ट दण्डनीतिका पालनकर उसने रात्रि-कालमें बाधा डालनेवालोंको शान्त किया ॥२८॥

कुलं राजर्षिवृत्तेन यशोगन्धमवीवपत् ।
दीप्त्या तम इवादित्यस्तेजसारीनवीवपत् ॥२९॥

राजर्षिकी तरह आचरण करते हुए उसने अपने कुलको यशरूपी सुगन्धसे सुगन्धित किया और जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे अन्धकार दूर करता है, वैसे ही उसने अपने तेजसे शत्रुओंको मार भगाया ॥२९॥

अपप्रथत्पितॄंश्चैव सत्पुत्रसदृशैर्गुणैः ।
सलिलेनेव चाम्भोदो वृत्तेनाजिह्लदत्प्रजाः ॥३०॥

उसने सुपुत्रके योग्य गुणोंसे अपने पूर्वजोंकी ख्यातिको फैलाया और जैसे मेघ जल बरसाकर लोगोंको आनन्दित करता है वैसे ही उसने अपने आचारसे प्रजाओंको प्रसन्न किया ॥३०॥

दानैरजस्रविपुलैः सोमं विप्रानसूषवत् ।
राजधर्मस्थितत्वाच्च काले सस्यमसूषवत् ॥३१॥

निरन्तर भूरि भूरि दान देकर उसने ब्राह्मणोंसे सोम-रस तैयार करवाया और उसके द्वारा राज-धर्मका पालन किया जानेसे समयपर फसलकी उत्पत्ति हुई ॥३१॥

अधर्मिष्ठामचकथन्न कथामकथंकथः ।
चक्रवर्तीव च परान्धर्मायाभ्युदसीषहत् ॥३२॥

उसने अधार्मिक बातें नहीं कीं, वह बार बार प्रश्न नहीं किया करता था और चक्रवर्ती (सम्राट्) के समान उसने दूसरोंको धर्मकी ओर प्रेरित (उत्साहित, आकृष्ट) किया ॥३२॥

राष्ट्रमन्यत्र च बलेर्न स किंचिददीदपत् ।
भृत्यैरेव च सोद्योगं द्विषद्दर्पमदीदपत् ॥३३॥

उसने देशसे करके अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया और सैनिकोंके उद्योगसे शत्रुओंका अभिमान चूर्ण किया ॥३३॥

स्वैरेवादीदपच्चापि भूयो भूयो गुणैः कुलं ।
प्रजा नादीदपच्चैव सर्वधर्मव्यवस्थया ॥३४॥

उसने अपने ही गुणोंसे अपने वंशको अत्यन्त उज्ज्वल किया और उसके द्वारा सब धर्मोंकी व्यवस्था की जानेसे प्रजाको कोई कष्ट (संताप) नहीं हुआ ॥३४॥

अश्रान्तः समये यज्वा यज्ञभूमिममीमपत् ।
पालनाच्च द्विजान् ब्रह्म निरुद्विग्नानमीमपत् ॥३५॥

थकावट अनुभव किये विना वह समयपर यज्ञ करता था, उसने यज्ञ-भूमिका माप करवाया । सुरक्षाका प्रबन्ध होनेसे द्विजोंने निर्भय होकर ब्रह्मचिन्तन किया ॥३५॥

गुरुभिर्विधिवत्काले सौम्यः सोममभीमपत् ।
तपसा तेजसा चैव द्विषत्सैन्यममीमपत् ॥३६॥

उस सौम्यने समयपर गुरुजनों (पुरोहितों) द्वारा विधिपूर्वक सोमका माप करवाया। उसने अपनी तपस्यासे (दोषों की) विपक्षी सेनाको और अपने तेजसे शत्रुओंकी सेनाको नष्ट किया ॥३६॥

प्रजाः परमधर्मज्ञः सूक्ष्मं धर्ममवीवसत्।
दर्शनाच्चैव धर्मस्य काले स्वर्गमवीवसत् ॥३७॥

उस परम धर्मज्ञने प्रजाओंको सूक्ष्म धर्मसे युक्त किया और धर्म का दर्शन होनेसे उन्होंने समयपर स्वर्गमें निवास किया ॥३७॥

व्यक्तमप्यर्थकृच्छ्रेषु नाधर्मिष्ठमतिष्ठिपत्।
प्रिय इत्येव चाशक्तं न संरागादवीवृधत् ॥३८॥

उसने किसी अधार्मिकको, चाहे वह सङ्कट-कालके लिए योग्य व्यक्ति ही क्यों न हो, नियुक्त नहीं किया और यह हमारा प्रियजन है, ऐसा सोचकर पक्षपातपूर्वक किसी अयोग्य की उन्नति नहीं की ॥३८॥

तेजसा च त्विषा चैव रिपून्दृप्तानबीभसत्।
यशोदीपेन दीप्तेन पृथिवीं च व्यबीभसत् ॥३६॥

उसने अपने तेजसे अभिमानी शत्रुओंको भस्मसात् किया और अपनी प्रभासे उन्हें निष्प्रभ किया और अपने यशके जलते हुए दीएसे पृथ्वीको प्रकाशित किया ॥३६॥

आनृशंस्यान्न यशसे तेनादायि सदार्थिने।
द्रव्यं महदपि त्यक्त्वा न चैवाकीर्ति किंचन ॥४०॥

उसने दयालुताके कारण, न कि यशकेलिए, सदा याचकोंको दान दिया और बहुत सा धन दान करके भी उसने इसकी कीर्ति नहीं फैलाई ॥४०॥

तेनारिरपि दुःखार्तो नात्याजि शरणागतः।
जित्वा दृप्तानपि रिपून्न तेनाकारि विस्मयः ॥४१॥

उसने शरणमें आये हुए दुःखी शत्रुका भी परित्याग नहीं किया। अभिमानी शत्रुओंको भी जीतकर उसने औद्धत्य प्रकट नहीं किया ॥४१॥

न तेनाभेदि मर्यादा कामाद्द्वेषाद्भयादपि।
तेन सत्स्वपि भोगेषु नासेवीन्द्रियवृत्तिता ॥४२॥

उसने काम (इच्छा), द्वेष या भयके कारण मर्यादा (औचित्य) का भङ्ग नहीं किया और भोगोंके रहते हुए भी उसने इन्द्रियोंकी गुलामी नहीं की ॥४२॥

न तेनादर्शि विषमं कार्यं क्वचन किंचन।
विप्रियप्रिययोः कृत्ये न तेनागामि निक्रियाः ॥४३॥

उसने कहीं कोई विषमता या अकार्य किया, ऐसा नहीं देखा गया। उसने अपने प्रिय (मित्र) या अप्रिय (शत्रु) केलिए नीचता न की ॥४३॥

तेनापायि यथाकल्पं सोमश्च यश एव च।
वेदश्चाम्नायि सततं वेदोक्तो धर्म एव च ॥४४॥

उसने यथाविधि सोम-रस पान किया और अपने यशकी रक्षा की। उसने निरन्तर वेद पढ़ा और वेद-विहित धर्मका पालन किया ॥४४॥

एवमादिभिरत्यक्तो बभूवासुलभैर्गुणैः।
अशक्यः शक्यसामन्तः शाक्यराजः स शक्रवत् ॥४५॥

इस प्रकारके दुर्लभ गुणोंसे युक्त वह अजेय शाक्य-राज, जिसके सामन्त विनीत और वशवर्ती थे, इन्द्रके समान जान पड़ता था ॥४५॥

अथ तस्मिन्तथा काले धर्मकामा दिवौकसः।
विचेरुर्दिशि लोकस्य धर्मचर्यां दिदृक्षवः ॥४६॥

तब उस समय धर्माभिलाषी देवगण धर्माचरण देखनेकी इच्छा-से संसारमें चारों ओर घूमने लगे ॥४६॥

धर्मात्मानश्चरन्तस्ते धर्मजिज्ञासया जगत्।
ददृशुस्तं विशेषेण धर्मात्मानं नराधिपं ॥४७॥

धर्मकी जिज्ञासासे संसारमें विचरण करते हुए उन धर्मात्माओंने उस राजाको देखा, जो विशेष रूपसे धर्मात्मा था ॥४७॥

देवेभ्यस्तुषितेभ्योऽथ बोधिसत्त्वः क्षितिं व्रजन्।
उपपत्तिं प्रणिदधे कुले तस्य महीपतेः ॥४८॥

तुषित देवोंके बीचसे बोधिसत्त्व पृथ्वीपर उतर आये और उसने उस राजाके कुलमें जन्म लेनेका निश्चय किया ॥४८॥

तस्य देवी नृदेवस्य माया नाम तदाभवत्।
वीतक्रोधतमोमाया मायेव दिवि देवता ॥४६॥

उस समय उस राजाके माया नामकी एक रानी थी, जो स्वर्गमें रहनेवाली माया नामक देवीके समान क्रोध अज्ञान और माया (वञ्चना) से रहित थी ॥४६॥

स्वप्नेऽथ समये गर्भमाविशन्तं ददर्श सा।
षड्दन्तं वारणं श्वेतमैरावतमिवौजसा ॥५०॥

तब उचित समयपर उसने स्वप्नमें छः दाँतवाले एक सफेद हाथीको, जो ऐरावत के समान शक्तिशाली था, अपने गर्भमें प्रवेश करते देखा ॥५०॥

तं विनिर्दिदिशुः श्रुत्वा स्वप्नं स्वप्नविदो द्विजाः।
तस्य जन्म कुमारस्य लक्ष्मीधर्मयशोभृतः ॥५१॥

स्वप्नकी बात सुनकर स्वप्न-विशारद द्विजोंने स्वप्नकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि लक्ष्मीवान् धर्मवान् और यशस्वी कुमारका जन्म होगा ॥५१॥

तस्य सत्त्वविशेषस्य जातौ जातिक्षयैषिणः ।
साचला प्रचचालोर्वी तरङ्गाभिहतेव नौः ॥५२॥

जन्म-विनाशके अभिलाषी उस सत्त्व-विशेषके जन्ममें पर्वतों सहित पृथिवी काँप उठी, जैसे तरंगोंसे आहत होकर जहाज काँपता है ॥५२॥

सूर्यरश्मिभिरक्लिष्टं पुष्पवर्षं पपात खात् ।
दिग्वारणकराधूताद्वनाच्चैत्ररथादिव ॥५३॥

सूर्यकी किरणोंमें नहीं कुम्हलाये हुए फूल आकाशसे गिरे, जान पड़ा जैसे दिग्गज अपनी सूँड़ोंसे चित्ररथ वनके वृक्षोंकी हिला रहे हों ॥५३॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्दीव्यतां मरुतामिव ।
दिदीपेऽभ्यधिकं सूर्यः शिवश्च पवनो ववौ ॥५४॥

आकाशमें दुन्दुभियाँ बजीं, जैसे मरुद्गण क्रीड़ा कर रहे हों। सूर्य अत्यन्त प्रज्वलित हुआ और कल्याणकारी हवा बहने लगी ॥५४॥

तुतुषुस्तुषिताश्चैव शुद्धावासाश्च देवताः ।
सद्धर्मबहुमानेन सत्त्वानां चानुकम्पया ॥५५॥

सद्धर्मके प्रति सम्मान-भाव तथा प्राणियोंके ऊपर दया-भाव होनेके कारण तुषित और शुद्धावास देवगण प्रसन्न हुए ॥५५॥

समाययौ यशःकेतुं श्रेयःकेतुकरः परः ।
बभ्राजे शान्तया लक्ष्म्या धर्मो विग्रहवानिव ॥५६॥

कल्याणकी पताका धारण करनेवाला वह सत्त्व-विशेष यशकी

चोटी पर चढ़ गया और शांत श्रीके साथ ऐसे विराजा, जैसे मूर्त्त धर्म हो ॥५६॥

देव्यामपि यवीयस्यामरण्यामिव पावकः।
नन्दो नाम सुतो जज्ञे नित्यानन्दकरः कुले ॥५७॥

जैसे अरणि (लकड़ी) से अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही छोटी रानीसे नन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अपने कुलकेलिए सदा आनन्ददायक था ॥५७॥

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः।
वपुषाग्र्येण यो नाम सुन्दरोपपदं दधे ॥५८॥

उसकी बाहुएँ लम्बी थीं, छाती विशाल थी, कंधे सिंहके-से थे और आँखें वृषभकी-सी थीं। अत्यन्त रूपवान् होनेके कारण उसे सुन्दरकी पदवी मिली ॥५८॥

मधुमास इव प्राप्तश्चन्द्रो नव इवोदितः।
अङ्गवानिव चानङ्गः स बभौ कान्तया श्रिया ॥५९॥

आये हुए मधुमासके समान, उगे हुए नये चन्द्रमाके समान तथा मूर्तिमान् कामदेवके समान वह कमनीय श्रीके साथ शोभित हुआ ॥५९॥

स तौ संवर्धयामास नरेन्द्रः परया मुदा।
अर्थः सज्जनहस्तस्थो धर्मकामौ महानिव ॥६०॥

उस राजाने उन दोनोंको परम प्रसन्नतापूर्वक पाला-पोसा, जैसे सज्जनके हाथमें रहनेवाला विपुल धन धर्म और कामको बढ़ाता है ॥६०॥

तस्य कालेन सत्पुत्रौ ववृधाते भवाय तौ।
आर्यस्यारम्भमहतो धर्मार्थाविव भूतये ॥६१॥

काल-क्रमसे उसके दोनों सुपुत्र उसके कल्याणके लिए बढ़ने लगे,

जैसे धर्म और अर्थ उस आर्यकी समृद्धिके लिए बढ़ते हैं जो (सत्कार्यके) आरम्भके कारण महान् है ।।६१।।

तयोः सत्पुत्रयोर्मध्ये शाक्यराजो रराज सः ।
मध्यदेश इव व्यक्तो हिमवत्पारिपात्रयोः ।।६२।।

उन सुपुत्रोंके बीच वह शाक्य-राज ऐसे शोभित हुआ, जैसे हिमालय और पारियात्रके बीच प्रकट हुआ मध्यदेश ।।६२।।

ततस्तयोः संस्कृतयोः क्रमेण नरेन्द्रसून्वोः कृतविद्ययोश्च ।
कामेष्वजस्रं प्रममाद नन्दः सर्वार्थसिद्धस्तु न संररञ्ज ।।६३।।

तब क्रमसे उन दोनों राजपुत्रोंके (उपनयन आदि) संस्कार हुए और उन्होंने विद्याएँ प्राप्त कीं । नन्द निरन्तर विषयोंमें आसक्त रहा, किन्तु सर्वार्थसिद्ध (= सिद्धार्थ) उनमें आसक्त नहीं हुआ ।।६३।।

स प्रेद्यैव हि जीर्णमातुरं च मृतं च
विमृशन् जगदनभिज्ञमार्तचित्तः
हृदयगतपरघृणो न विषयरतिमगम-
ज्जननमरणभयमभितो विजिघांसुः ।।६४।।

बूढ़े रोगी और मरे हुएको देखकर दुःखितचित्त हो सिद्धार्थने संसारको अनभिज्ञ (अज्ञानी) समझा । उसके हृदयमें दूसरोंके प्रति दया उत्पन्न हो गई और उसने जन्म और मरणको अच्छी तरह नष्ट कर डालना चाहा, इसलिए उसे विषयोंमें आनन्द नहीं मिला ।।६४।।

उद्वेगादपुनर्भवे मनः प्रणिधाय
स ययौ शयितवराङ्गनादनास्थः ।
निशि नृपतिनिलयनाद्वनगमनकृतमनाः
सरस इव मथितनलिनात्कलहंसः ।।६५।।

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये राजवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

उद्वेगके कारण उसने मोक्ष (= निर्वाण) में मन लगाया और वन जानेका निश्चय किया; वह रात्रि-कालमें उस राज-भवनसे, जिसमें उत्तम उत्तम स्त्रियाँ सोई हुई थीं, उदास होकर चला गया, जैसे सरोवर से, जिसके कमल नष्ट-भ्रष्ट हो गये हों, कलहंस बिदा हो जाता है ।।६५।।

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "राज-वर्णन"
नामक द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

तथागत

तपसे ततः कपिलवास्तु हयगजरथौघसंकुलं।

श्रीमदभयमनुरक्तजनं स विहाय निश्चितमना वनं ययौ ॥१॥

तब वह उस कपिलवास्तुको, जो घोड़ों हाथियों और रथोंसे भरा था, श्रीसे युक्त था, भयसे मुक्त था और जहाँ के लोग उससे अनुराग करते थे, छोड़कर तपस्या करनेके लिए निश्चयपूर्वक वनको चला गया॥१॥

विवधागमांस्तपसि तांश्च विविधनियमाश्रयान्मुनीन्।

प्रेक्ष्य स विषयतृषाकृपणाननवस्थितं तप इति न्यवर्तत ॥२॥

विविध शास्त्रोंके अनुसार तपस्या करनेवाले मुनिगण विविध नियमोंका पालन कर रहे हैं, और विषयोंकी तृष्णासे कृपण हैं, ऐसा देखकर उसने तपके फल को अस्थिर माना और वहाँसे लौट गया ॥२॥

अथ मोक्षवादिनमराडमुपशममतिं तथोद्रकं।

तत्त्वकृतमतिरुपास्य जहावयमप्यमार्ग इति मार्गकोविदः॥३॥

तब उसने, जिसका मन तत्त्वकी प्राप्तिमें लगा हुआ था, मोक्ष-वादी अराड और शम (शान्ति)-वादी उद्रककी उपासना की; किन्तु उस मार्गवेत्ता (-दर्शी) ने 'यह भी (सच्चा) मार्ग नहीं है' ऐसा सोच-कर उन्हें छोड़ दिया ॥३॥

स विचारयन् जगति किं नु परममिति तं तमागमं।

निश्चयमनधिगतः परतः परमं चचार तप एव दुष्करं ॥४॥

संसारके विविध आगमों (पन्थों, शास्त्रों) में कौन सर्व-श्रेष्ठ है, इसपर विचार करता हुआ वह दूसरोंके सहारे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सका, तब उसने दुष्कर तपस्या ही की ।।४।।

अथ नैष मार्ग इति वीक्ष्य तदपि विपुलं जहौ तपः ।
ध्यानविषयमवगम्य परं बुभुजे वरान्नममृतत्वबुद्धये ।।५।।

तब 'यह (सच्चा) मार्ग नहीं है' ऐसा देखकर उसने अपनी उस विशाल तपस्याको भी छोड़ा और ध्यानके विषयको श्रेष्ठ समझकर अमृतत्त्वको समझनेके लिए उत्तम अन्न ग्रहण किया ।।५।।

स सुवर्णपीनयुगबाहुर्ऋषभगतिरायतेक्षणः ।
प्लक्षमवनिरुहमभ्यगमत्परमस्य निश्चयविधेर्बुभुत्सया ।।६।।

निश्चयपर पहुँचनेकेलिए कौन-सा तरीका उत्तम है, यह जाननेकी इच्छासे वह—जिसकी जुएकी-सी लम्बी बाहुएँ सुनहली और मोटी थीं, जिसकी चाल साँड़की-सी थी और जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं—पीपल वृक्षके समीप गया ।।६।।

उपविश्य तत्र कृतबुद्धिरचलधृतिरद्रिराजवत् ।
मारबलमजयदुग्रमथो बुबुधे पदं शिवमहार्यमव्ययं ।।७।।

वहाँ वह दृढ़तापूर्वक बैठ गया, उसका धैर्य अद्रिराज (हिमालय) के समान अविचल था, उसने मारकी उग्र सेनाको जीता, और तब उस पदको समझा जो मङ्गलमय अविनाशी और नित्य है ।।७।।

अवगम्य तं च कृतकार्यममृतमनसो दिवौकसः ।
हर्षमतुलमगमन्मुदिता विमुखी तु मारपरिषत्प्रचुक्षुभे ।।८।।

उन्होंने अपना कार्य पूरा कर लिया है, यह जानकर देवगण

८—परिषद् के लिए देखिये बु० च० तेरह ५५ ।

अत्यन्त प्रसन्न हुए; किंतु वहाँसे लौटी हुई मारकी सेनाको बड़ा क्षोभ हुआ ॥८॥

सनगा च भूः प्रविचचाल हुतवहसखः शिवो ववौ ।
नेदुरपि च सुरदुन्दुभयः प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः ॥९॥

पर्वतों सहित पृथ्वी काँप उठी, कल्याणकारी हवा बहने लगी, देव-दुन्दुभियाँ बजीं, और बिना बादलके आकाशसे वृष्टि हुई ॥९॥

अवबुध्य चैव परमार्थमजरमनुकम्पया विभुः ।
नित्यममृतमुपदर्शयितुं स वराणसीपरिकरामयात्पुरीं ॥१०॥

अविनाशी परमार्थको जानकर भगवान् शाश्वत अमृतका दर्शन करानेके लिए वराणसीसे घिरी हुई पुरीको गये ॥१०॥

अथ धर्मचक्रमृतनाभि धृतिमतिसमाधिनेमिमत् ।
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषद्यवर्तयत् ॥११॥

तब जगत्के हितके लिए मुनिने वहाँकी परिषद्में वह धर्म-चक्र चलाया जिसकी नाभि (नाहा) है सत्य, जिसकी पुट्ठियाँ हैं धृति ज्ञान और समाधि तथा जिसके आरे (कीलक) हैं विनय और नियम ॥११॥

इति दुःखमेतदियमस्य समुदयलता प्रवर्तिका ।
शान्तिरियमयमुपाय इति प्रविभागशः परमिदं चतुष्टयं ॥१२॥

यह दुःख है, यह इसकी समुदय-लता (कारण) है जो प्रवृत्ति में लगाती है, यह निरोध है और यह (निरोधका) उपाय; परम सत्यके ये चार विभाग हैं; ॥१२॥

१०—वरना और असी नामकी दो नदियाँ अब भी काशीमें बहती हैं ।

अभिधाय च त्रिपरिवर्तमतुलमनिवर्त्यमुत्तमं ।
द्वादशनियतविकल्पमृषिर्विनिनाय कौण्डिनसगोत्रमादितः ॥१३॥

इसकी तीन अवस्थाएँ हैं, और बारह निश्चित भेद हैं, यह (सत्य) अनुपम निर्विवाद और उत्तम है, इस तरह व्याख्या करके मुनिने पहले पहल कौण्डिन्यको विनीत (दीक्षित) किया ॥१३॥

स हि दोषसागरमगाधमुपधिजलमाधिजन्तुकं ।
क्रोधमदभयतरङ्गचलं प्रततार लोकमपि च व्यतारयत् ॥१४॥

उन्होंने दोषोंके अगाध सागर को, छल-कपट ही जिसका जल है, (मानसिक) आधियाँ ही जिसके जन्तु हैं, और जो क्रोध मद एवं भयके तरङ्गोंसे चञ्चल है, स्वयं (तैर कर) पार किया और लोगोंको भी पार किया ॥१४॥

स विनीय काशिषु गयेषु बहुजनमथो गिरिव्रजे ।
पित्र्यमपि परमकारुणिको नगरं ययावनुजिघृक्षया तदा ॥१५॥

उन्होंने काशी, गया और गिरिव्रज (राजगृह) में बहुतसे लोगोंको विनीत किया और तब वह परम कारुणिक पितृ-नगरके ऊपर भी अनुग्रह करनेकी इच्छासे वहाँ गये ॥१५॥

विषयात्मकस्य हि जनस्य बहुविविधमार्गसेविनः ।
सूर्यसदृशवपुरभ्युदितो विजहार सूर्य इव गौतमस्तमः ॥१६॥

उगते हुए सूर्यकी-सी आकृतिवाले गौतम मुनिने विषयोंमें डूबे हुए लोगों का, जो भाँति-भाँतिके बहुतसे मार्गोंपर चल रहे थे, अज्ञान नष्ट किया, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकारको दूर करता है ॥१६॥

अभितस्ततः कपिलवास्तु परमशुभवास्तुसंस्तुतं ।
वस्तुमतिशुचि शिवोपवनं स ददर्श निःस्पृहतया यथा वनं ॥१७॥

तब अपने चारों ओर कपिलवस्तु को, जो अत्यन्त सुन्दर निवास-भवनोंके लिए विख्यात था, जो सम्पत्ति और बुद्धिमें पवित्र था तथा जो कल्याणकारी उपवनोंसे युक्त था, उन निःस्पृह (निरभिलाष) ने ऐसे देखा जैसे जंगलको देख रहे हों ॥१७॥

अपरिग्रहः स हि बभूव नियतमतिरात्मनीश्वरः।
नैकविधभयकरेषु किमु स्वजनस्वदेशजनमित्रवस्तुषु ॥१८॥

क्योंकि उन स्थिरबुद्धिने, जो अपनेके ईश्वर (स्वामी) आप थे, (धर्माचरणमें) अनेक प्रकारके विघ्न डालनेवाले स्वजन स्वदेश-वासी मित्र और सम्पत्तिसे अपना सब नाता तोड़ लिया था ॥१८॥

प्रतिपूजया न स जहर्ष न च शुचमवज्ञयागमत्।
निश्चितमतिरसिचन्दनयोर्न जगाम दुःखसुखयोश्च विक्रियाम्॥१९॥

सम्मान पाकर उन्हें हर्ष नहीं हुआ और अपमानसे शोक नहीं हुआ। वह स्थिरबुद्धि तलवार या चन्दनसे दुःख या सुखके विकार (भाव) को नहीं प्राप्त हुए ॥१९॥

अथ पार्थिवः समुपलभ्य सुतमुपगतं तथागतं।
तूर्णमबहुतुरगानुगतः सुतदर्शनोत्सुकतयाभिनिर्ययौ ॥२०॥

तब अपने पुत्र तथागतको समीपमें आया हुआ जानकर राजा (शुद्धोदन) पुत्रको देखनेकी उत्सुकतासे कुछ ही घोड़ोंके साथ तुरंत बाहर निकल गया ॥२०॥

सुगतस्तथागतमवेत्य नरपतिमधीरमाशया।
शेषमपि च जनमश्रुमुखं विनिनीषया गगनमुत्पपात ह ॥२१॥

१७—पा० 'वास्तुमतिशुचि'।

उस प्रकार आये हुए राजाको आशासे अधीर तथा दूसरे लोगों को रोते हुए देखकर सुगत उन्हें विनीत करनेकी इच्छासे आकाशमें उड़ गये ॥२१॥

स विचक्रमे दिवि भुवीव पुनरुपविवेश तस्थिवान् ।
निश्चलमतिरशयिष्ट पुनर्बहुधाभवत्पुनरभूत्तथैकधा ॥२२॥

वह आकाशमें ऐसे चले जैसे पृथ्वीपर, फिर वहाँ खड़े हुए और बैठ गये । वह स्थिरबुद्धि फिर सो रहे, फिर अनेक रूपोंमें विभक्त हुए और फिर एक हो गये ॥२२॥

सलिले क्षिताविव चचार जलमिव विवेश मेदिनीं ।
मेघ इव दिवि ववर्ष पुनः पुनरज्वलन्नव इवोदितो रविः ॥२३॥

पानीमें ऐसे चले जैसे पृथ्वीपर, पृथ्वीमें ऐसे घुसे जैसे पानीमें । फिर आकाशमें मेघके समान जल बरसाया और फिर उगे हुए बाल सूर्यके समान प्रज्वलित हुए ॥२३॥

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत् ।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः ॥२४॥

एक ही साथ अग्निके समान प्रज्वलित होते हुए और मेघके समान जल बरसाते हुए वह तपे हुए सोनेकी-सी प्रभासे ऐसे शोभित हुए जैसे सन्ध्याकालीन आभासे बादल प्रदीप्त होता है ॥२४॥

तमुदीक्ष्य हेममणिजालवलयिनमिवोत्थितं ध्वजं ।
प्रीतिमगमदतुलां नृपतिर्जनता नताश्च बहुमानमभ्ययुः ॥२५॥

सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित ध्वजाके समान उन्हें (आकाशमें) उठा हुआ देखकर राजाको अपार आनन्द हुआ और जनताने झुककर उनका सम्मान किया ॥२५॥

अथ भाजनीकृतमवेत्य मनुजपतिमृद्धिसंपदा ।
पौरजनमपि च तत्प्रवणं निजगाद धर्मविनयं विनायकः ॥२६॥

तब यह देखकर कि ऋद्धियोंके प्रदर्शनसे राजा धर्मग्रहणके योग्य हो गया है और जनता अपनी ओर झुका हुआ है, विनायक (बुद्ध) ने धर्म और विनयका उपदेश दिया ॥२६॥

नृपतिस्ततः प्रथममाप फलममृतधर्मसिद्धये ।
धर्ममतुलमधिगम्य मुनेर्मुनये ननाम स यतो गुराविव ॥२७॥

तब राजाने अमर धर्मकी सिद्धिके लिए प्रथम फल प्राप्त किया और मुनिका अनुपम धर्म प्राप्तकर संयत होकर उसने मुनिको ऐसे प्रणाम किया जैसे गुरुको ॥२७॥

बहवः प्रसन्नमनसोऽथ जननमरणार्तिभीरवः ।
शाक्यतनयवृषभाः कृतिनो वृषभा इवानलभयात्प्रवव्रजुः ॥२८॥

तब जन्म और मरणके दुःखसे डरे हुए बहुतसे पुण्यवान् श्रेष्ठ शाक्य-पुत्र प्रसन्न मनसे प्रव्रजित हुए, जैसे अग्निके डरसे साँड़ (अपने निवास-स्थानसे) बाहर निकल पड़ते हैं ॥२८॥

विजहुस्तु येऽपि न गृहाणि तनयपितृमात्रपेक्षया ।
तेऽपि नियमविधिमामरणाज्जगृहुश्च युक्तमनसश्च दध्रिरे ॥२९॥

माता-पिता तथा पुत्रको देखते हुए जिन्होंने घर नहीं छोड़े उन्होंने भी आमरण नियम-व्रत ग्रहण किये तथा मनोयोगपूर्वक उनका पालन किया ॥२९॥

न जिहिंस सूक्ष्ममपि जन्तुमपि परवधोपजीवनः ।
किं बत विपुलगुणः कुलजः सदयः सदा किमु मुनेरुपासया ॥३०॥

२७—पा० '० धर्मसिद्धयोः'

दूसरों के वधसे जीनेवाले (व्याध) ने सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुकी भी हिंसा न की, फिर महागुणवान् कुलीन तथा मुनिकी उपासनासे सदा दयावान् पुरुषका क्या कहना ॥३०॥

अकृशोद्यमः कृशधनोऽपि परपरिभवासहोऽपि सन्।
नान्यधनमपजहार तथा भुजगादिवान्यविभवाद्धि विव्यथे ॥३१॥

उसी प्रकार महापरिश्रमी मनुष्यने, दरिद्र होनेपर भी तथा (अपनी दरिद्रता के कारण) दूसरोंसे होनेवाले अपमानको सहनेमें असमर्थ होने पर भी, दूसरोंका धन नहीं चुराया; क्योंकि वह दूसरोंकी सम्पत्तिसे वैसे ही डरता था जैसे साँपसे ॥३१॥

विभवान्वितोऽपि तरुणोऽपि विषयचपलेन्द्रियोऽपि सन्।
नैव च परयुवतीरगमत्परमं हि ता दहनतोऽप्यमन्यत ॥३२॥

सम्पत्तिशाली होनेपर भी, तरुण होनेपर भी तथा विषयोंके कारण चपलेन्द्रिय होनेपर भी कोई आदमी दूसरोंकी युवती स्त्रियोंके समीप नहीं गया; क्योंकि उसने उन्हें अग्निसे भी बढ़कर दाहक माना ॥३२॥

अनृतं जगाद न च कश्चि-
दृतमपि जजल्प नाप्रियं।
श्लक्ष्णमपि च न जगावहितं
हितमप्युवाच न च पैशुनाय यत् ॥३३॥

किसीने असत्य नहीं कहा, सत्य वचन कहा किंतु अप्रिय नहीं। ऐसी चिकनी-चुपड़ी बात भी नहीं कही जो अहितकारी हो। हितकारी वचन कहा और किसी की चुगली नहीं की ॥३३॥

मनसा लुलोभ न च जातु परवसुषु गृद्धमानसः।
कामसुखमसुखतो विमृशन्विजहार तृप्त इव तत्र सज्जनः ॥३४॥

किसीने अपने मनमें लोभ नहीं किया, दूसरेकी चीजोंसे किसीका जी नहीं ललचा। विषयोंके सेवनसे होनेवाले सुखको दुःख समझकर सज्जन पुरुषने इस प्रकार आचरण किया मानो (विषय-सेवन के विना ही) वह विषयोंमें तृप्त हो चुका हो ॥३४॥

न परस्य कश्चिदपघातमपि च सघृणो व्यचिन्तयत् ।
मातृपितृसुतसुहृत्सदृशं स ददर्श तत्र हि परस्परं जनः ॥३५॥

सब लोग दयालु थे, और किसीने, दूसरेको हानि पहुँचाने की कल्पना तक नहीं की; क्योंकि लोगों ने एक-दूसरे को माता पिता पुत्र और मित्रके समान देखा ॥३५॥

नियतं भविष्यति परत्र भवदपि च भूतमप्यथो ।
कर्मफलमपि च लोकगतिर्नियतेति दर्शनमवाप साधु च ॥३६॥

कर्मका नियत फल भविष्यमें प्राप्त होगा, (वर्तमानमें) प्राप्त हो रहा है और (अतीतमें) प्राप्त हुआ है; (कर्मके अनुसार ही) संसारमें जीवों की गति निश्चित होती है, यह सम्यक् दृष्टि उन्होंने प्राप्त की ॥३६॥

३६—"मनुष्य कर्मोंके अवश्यम्भावी फलको भोगता है। अपने अपने कर्मोंके अनुसार जीवोंकी तीन प्रकारकी गति देखी गई है—स्वर्ग-लोककी प्राप्ति, मनुष्य-योनिमें जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें उत्पन्न होना"—कल्याण, महाभारताङ्क, युधिष्ठिर और सर्प के प्रश्नोत्तर, पृ० ३५१। बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार ये पाँच गति हैं—नरक, प्रेत, तिर्यक् (पशु-पक्षी), मानुष और देव, तथा कहीं कहीं छठी गति आसुर भी है।

इति कर्मणा दशविधेन
परमकुशलेन भूरिणा ।
भ्रंशिनि शिथिलगुणोऽपि युगे
विजहार तत्र मुनिसंश्रयाज्जनः ॥३७॥

भ्रष्ट युगमें सद्‌गुणोंसे विमुख (उदासीन) होनेपर भी, मुनिके आश्रयमें रहकर लोगोंने परम कल्याणकारी दस सुकर्मोंका आचरण किया ॥३७॥

न च तत्र कश्चिदुपपत्तिसुखमभिललाष तैर्गुणैः ।
सर्वमशिवमवगम्य भवं भवसंक्षयाय ववृते न जन्मने ॥३८॥

अपने उन सद्‌गुणोंके कारण किसीने जन्म-सुख (जीवनके भोगों) की अभिलाषा नहीं की। सम्पूर्ण भव (जन्म, संसार) को अमङ्गलमय समझकर लोगोंने भव-विनाश (मोक्ष) केलिए आचरण किया, न कि पुनर्जन्मकेलिए ॥३८॥

३७—पा० 'शिथिलगुणोऽपि'। दस सुकर्म (= कुशल कर्मपथ) ये हैं—(१) प्राणातिपात-विरति (= हिंसा नहीं करना) (२) अदत्तादान-विरति (= चोरी नहीं करना) (३) काम-मिथ्याचार-विरति (= व्यभिचार नहीं करना) (४) मृषावाद-विरति (= झूठ नहीं बोलना) (५) पिशुन वचन-विरति (= चुगली नहीं करना) (६) परुष वचन-विरति (= कटु वचन नहीं कहना) (७) प्रलाप-विरति (= बकवाद नहीं करना या फजूल नहीं बोलना) (८) अन् अभिध्या (= लोभ नहीं करना) (९) अव्यापाद (= द्रोह नहीं करना) (१०) सम्यक् दृष्टि। पिछले सात श्लोकोंमें इनमेंसे ८ सुकर्मोंका वर्णन है। डा० जौन्स्टनके अनुसार ३३ और ३४ के बीचका श्लोक अप्राप्त है, जिसमें शेष दो सुकर्मोंका वर्णन आया होगा।

अकथंकथा गृहिण एव परमपरिशुद्धदृष्टयः।
स्रोतसि हि ववृतिरे बहवो रजसस्तनुत्वमपि चक्रिरे परे ॥३६॥

गृहस्थ शङ्का-सूचक प्रश्नोंसे भरे नहीं थे, उनकी दृष्टि (विचार, ज्ञान) परम परिशुद्ध थी। बहुतसे लोग स्रोत-आपन्न हुए, और दूसरों ने रजस् (राग द्वेष रूपी दोषों) को क्षीण किया ॥३६॥

ववृतेऽत्र योऽपि विषयेषु
विभवसदृशेषु कश्चन।
त्यागविनयनियमाभिरतो
विजहार सोऽपि न चचाल सत्पथात् ॥४०॥

जो कोई विनाश-तुल्य विषयोंमें आसक्त था, वह भी त्याग, विनय और नियममें रत हुआ और सन्मार्गसे विचलित नहीं हुआ ॥४०॥

अपि च स्वतोऽपि परतोऽपि न भयमभवन्न दैवतः।
तत्र च सुसुखसुभिक्षगुणैर्जहृषुः प्रजाः कृतयुगे मनोरिव ॥४१॥

अपनेसे परायेसे वा दैवसे किसीको कोई भय नहीं था, सुख सुभिक्षा (अन्नकी सुलभता) और सद्गुणोंके कारण प्रजा प्रसन्न थी वैसे ही जैसे कि (राजा) मनुके कृतयुग में ॥४१॥

इति मुदितमनामयं निरापत्कुरुरघुपूरुपुरोपमं पुरं तत्।
अभवदभयदैशिके महर्षौ विहरति तत्र शिवाय वीतरागे ॥४२॥

इति सौन्दरनन्दे महाकाव्ये तथागतवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः।

कुरु रघु और पूरुके नगरके समान वह नगर प्रसन्न रोग-रहित और आपत्ति-रहित था, वहाँ अभयका उपदेश करनेवाले वीतराग महर्षि सबके मङ्गलकेलिए विहार कर रहे थे ॥४२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "तथागत-वर्णन"
नामक तृतीय सर्ग समाप्त।

४०—पा० 'विषमेषु'।

चतुर्थ सर्ग

पत्नीकी अनुमति *

मुनौ ब्रुवाणेऽपि तु तत्र धर्मं धर्मं प्रति ज्ञातिषु चाहतेषु।
प्रासादसंस्थो मदनैककार्यः प्रियासहायो विजहार नन्दः ॥१॥

यद्यपि वहाँ (कपिलवस्तुमें) मुनि धर्मोपदेश कर रहे थे और उनके जाति-भाई धर्मके प्रति आदर-भाव दिखा रहे थे, तो भी कामासक्त नन्द महलमें रहकर अपनी प्रियतमाके साथ विहार कर रहा था ॥१॥

स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः।
नाचिन्तयद्वैश्रमणं न शक्रं तत्स्थानहेतोः कुत एव धर्मं ॥२॥

चक्रवाकीसे युक्त चक्रवाकके समान, उस प्रियतमासे युक्त नन्दने जो कि अपनी प्रियतमाके (सर्वथा) योग्य था, उसकी उपस्थितिके कारण न कुबेरकी पर्वाह की, न इन्द्र की, फिर धर्मकी कहाँ से ॥२॥

लक्ष्म्या च रूपेण च सुन्दरीति स्तम्भेन गर्वेण च मानिनीति।
दीप्त्या च मानेन च भामिनीति यातो बभाषे त्रिविधेन नाम्ना ॥३॥

शोभा और रूपके कारण सुन्दरी, हठ और गर्वके कारण मानिनी तथा दीप्ति और मनस्विताके कारण भामिनी—इस प्रकार इन तीन नामोंसे वह पुकारी जाती थी ॥३॥

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥४॥

---

* भार्या-याचितक = भार्यासे माँगकर पाई गई वस्तु = गुरु-दर्शनकी अनुमति।

मुस्कानरूप हंसवाली, नेत्ररूप भ्रमरवाली और पीन-स्तन-रूप उन्नत कमलकोशवाली वह स्त्रीरूपी पद्मिनी (सरोवर) सूर्यवंशमें उदय हुए नन्दरूपी सूर्यसे अत्यन्त भासित हुई ॥४॥

रूपेण चात्यन्तमनोहरेण रूपानुरूपेण च चेष्टितेन ।
मनुष्यलोके हि तदा बभूव सा सुन्दरी स्त्रीषु नरेषु नन्दः ॥५॥

अत्यन्त मनोहर रूपके कारण और रूपके ही अनुरूप चेष्टाके कारण, मनुष्य-लोकमें उस समय स्त्रियोंके बीच सुन्दरी और पुरुषोंके बीच नन्द (अनुपम) था ॥५॥

सा देवता नन्दनचारिणीव कुलस्य नन्दीजननश्च नन्दः ।
अतीत्य मर्त्याननुपेत्य देवान् सृष्टावभूतामिव भूतधात्रा ॥६॥

नन्दन-वनमें विचरण करनेवाली देवता-तुल्य सुन्दरीको और कुलको आनन्दित करनेवाले नंदको विधाताने मानो मनुष्योंके ऊपर और देवोंके नीचे (अर्थात् मनुष्य-जाति और देव-जाति के बीचमें) सृजन किया था ॥६॥

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥७॥

यदि नन्द उस सुन्दरीको प्राप्त नहीं करता या यदि आनत (टेढ़ी) भौंहोंवाली सुन्दरी ही उसे नहीं प्राप्त करती तो वे दोनों निश्चय ही एक-दूसरेके अभावमें वैसे ही शोभित नहीं होते, जैसे कि एक दूसरेसे अलग होकर रात्रि और चन्द्रमा ॥७॥

कन्दर्परत्योरिव लक्ष्यभूतं प्रमोदनान्द्योरिव नीडभूतं ।
प्रहर्षतुष्ट्योरिव पात्रभूतं द्वन्द्वं सहारंस्त मदान्धभूतं ॥८॥

कामदेव और रतिका मानो लक्ष्य होकर, प्रमोद और आनन्दका मानो नीड़ (घोंसला, निवास-स्थान) होकर, हर्ष और संतुष्टिका

मानो पात्र होकर, उस कामान्ध जोड़ीने एक दूसरेके साथ रमण किया ।।८।।

परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्षं परस्परव्याहृतसक्तचित्तं ।
परस्पराश्लेषहृताङ्गरागं परस्परं तन्मिथुनं जहार ॥९॥

उनकी आँखें एक दूसरेको देखनेमें लीन थीं, उनके चित्त एक दूसरेके साथ बातें करनेमें व्यस्त थे, और एक-दूसरेका आलिङ्गन करते करते उनका अङ्गराग मिट गया था; इस प्रकार उस जोड़ीने एक दूसरेको आकृष्ट किया ॥९॥

भावानुरक्तौ गिरिनिर्झरस्थौ तौ किन्नरीकिंपुरुषाविवोभौ ।
चिक्रीडतुश्चाभिविरेजतुश्च रूपश्रियान्योन्यमिवाक्षिपन्तौ॥ १०॥

पर्वतके झरनेपर (सर्व-) भावसे (एक-दूसरेके प्रति) अनुरक्त किंपुरुष और किन्नरीके समान क्रीड़ा करते हुए वे दोनों शोभित हो रहे थे, मानो अपनी अपनी रूपशोभासे एक दूसरेको चुनौती दे रहे थे ।।१०।।

अन्योन्यसंरागविवर्धनेन तद्द्वन्द्वमन्योन्यमरीरमच्च ।
क्लमान्तरेऽन्योन्यविनोदनेन सलीलमन्योन्यममीमदच्च ।।११।।

पारस्परिक अनुराग बढ़ाकर उस (प्रेमी-) युगलने परस्पर रमण किया और थकावट होने पर एक-दूसरेका मनोविनोद करके लीलापूर्वक एक-दूसरेको प्रमत्त किया ॥११॥

विभूषयामास ततः प्रियां स सिषेविषुस्तां न मृजावहार्थं ।
स्वेनैव रूपेण विभूषिता हि विभूषणानामपि भूषणं सा ॥१२॥

एक बार सेवा करने की इच्छासे न कि सिंगार सजावटके लिए उसने अपनी प्रियाको विभूषित किया; क्योंकि अपनेही (स्वाभाविक) रूपसे विभूषित सुन्दरी आभूषणोंका भी आभूषण थी ।।१२।।

दत्त्वाथ सा दर्पणमस्य हस्ते ममाग्रतो धारय तावदेनं ।
विशेषकं यावदहं करोमीत्युवाच कान्तं स च तं बभार ॥१३॥

तब अपने प्रियतमके हाथ में दर्पण देकर उसने कहा—"जब तक मैं अपना अङ्गराग (विशेषक) करती हूँ तब तक इसे मेरे आगे धारण करो" और नन्दने उस (दर्पण) को धारण किया ॥१३॥

भर्तुस्ततः श्मश्रु निरीक्षमाणा विशेषकं सापि चकार तादृक् ।
निश्वासवातेन च दर्पणस्य चिकित्सयित्वा निजघान नंदः॥१४॥

स्वामीकी मूँछको देखते हुए उसने (अपने चेहरे पर मूँछ का, वैसा ही चित्रण किया और नन्दने जानबूझकर अपनी साँसों की हवासे दर्पणको आविल (गंदा) कर दिया ॥१४॥

सा तेन चेष्टाललितेन भर्तुःशाठ्येन चांतर्मनसा जहास ।
भवेच्च रुष्टा किल नाम तस्मै ललाटजिह्मां भृकुटिं चकार ॥१५॥

स्वामीकी इस लीला और शठता पर वह मन ही मन हँसी और नाम (दिखावे) केलिए उसके प्रति रुष्ट होकर उसने अपने ललाटकी भौंहोंको कुटिल कर लिया ॥१५॥

चिक्षेप कर्णोत्पलमस्य चांसे करेण सव्येन मदालसेन ।
पत्राङ्गुलिं चार्धनिमीलिताक्षे वक्त्रेऽस्य तामेव विनिर्दुधाव ॥१६

मदसे अलसाये हुए बाएँ हाथसे उसने नन्दके कन्धे पर अपने कानका नीला कमल फेंका और उसके अधमुँदी आँखोंवाले मुखपर वही अङ्गराग लगाया ॥१६॥

ततश्चलन्नूपुरयोक्तित्रताभ्यां नखप्रभोद्भासितराङ्गुलिभ्यां ।
पद्भ्यां प्रियाया नलिनोपमाभ्यां मूर्ध्ना भयान्नाम ननाम नन्दः ॥१७

तब प्रियाके कमलोपम पाँवों पर, जो चञ्चल नूपुरोंसे नियन्त्रित थे और जिनकी अङ्गुलियाँ नखोंकी प्रभासे भासित थीं, नंदने डरके मारे अपना शिर झुकाया ॥१७॥

स मुक्तपुष्पोन्मिर्षितेन मूर्ध्ना ततः प्रियायाः प्रियकृद्बभासे ।
सुवर्णवेद्यामनिलावभग्नः पुष्पातिभारादिव नागवृक्षः ॥१८॥

नीचे लटकते हुए फूलोंसे उसका मस्तक चमकने लगा, उस समय प्रियाको मनानेमें लगा हुआ नंद ऐसे शोभित हुआ, जैसे सुवर्ण-वेदी पर वायुके वेगसे और फूलोंके भारसे टूटा हुआ नाग-वृक्ष पड़ा हो ॥१८॥

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीड्य दोर्भ्यां ।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ॥१६॥

सुन्दरीने नंदको अपनी भुजाओंमें पकड़ लिया, जिससे उसके स्तनों परके हार नीचे लटकने लगे, और उसे ऊपर उठा लिया। "कैसे हो गये हो" यह कहती हुई वह जोरोंसे हँस पड़ी, जिससे उसके चेहरेपर कुण्डल झुलने लगे ॥१६॥

पत्युस्ततो दर्पणसक्तपाणेर्मुहुर्मुहुर्वक्त्रमवेक्षमाणा ।
तमालपत्रार्द्रतले कपोले समापयामास विशेषकं तत् ॥२०॥

तब हाथमें दर्पण लिये हुए पतिके मुखको बार बार देखते हुए उसने तमाल-पत्रसे आर्द्र तलवाले (भींगे) कपोल पर उस विशेषक (चित्रकारी) को पूरा किया ॥२०॥

तस्या मुखं तत्सतमालपत्रं ताम्राधरौष्ठं चिकुरायताक्षं ।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवाबभासे ॥२१॥

उसका वह मुख, जो तमाल-पत्रसे युक्त था, जिसके होठ ताम्रवर्ण थे और जिसकी आँखें चञ्चल व लम्बी थीं, उस कमलके समान

शोभित हुआ जो (क्रमशः) सेवारसे युक्त हो, जिसका अग्रभाग लाल हो और जिसपर भौरे बैठे हुए हों ॥२१॥

नन्दस्ततो दर्पणमादरेण बिभ्रत्तदामण्डनसाक्षिभूतं ।
विशेषकावेक्षणकेकराक्षो लडत्प्रियाया वदनं ददर्श ॥२२॥

तब उसकी मण्डन-क्रिया (सिंगार) के साक्षी-स्वरूप उस दर्पण को सादर धारण करते हुए, विशेषकको देखनेके लिए अपनी दृष्टिको तिरछी करते हुए, उसने प्रियाके सुन्दर मुखको देखा ॥२२॥

तत्कुण्डलादष्टविशेषकान्तं कारण्डवक्लिष्टमिवारविन्दं ।
नन्दः प्रियाया मुखमीक्षमाणो भूयः प्रियानन्दकरो बभूव ॥२३

वह मुख, जिसके विशेषकके अंत (छोर) कुण्डलोंसे कट (मिट) रहे थे, कारण्डव पक्षीसे क्लेशित हो रहे कमलके समान दिखाई पड़ा। प्रियाके मुखको देखते हुए नंदने प्रियाको पुनः आनन्दित किया ॥२३॥

विमानकल्पे स विमानगर्भे ततस्तथा चैव ननन्द नन्दः ।
तथागतश्चागतभैक्षकालो भैक्षाय तस्य प्रविवेश वेश्म ॥२४॥

विमान- (देव-प्रासाद-) तुल्य महलमें नंद उस प्रकार आनंद कर रहा था; तब भिक्षाका समय उपस्थित होनेपर तथागतने भिक्षाके लिए उसके घरमें प्रवेश किया ॥२४॥

अवाङ्मुखो निष्प्रणयश्च तस्थौ भ्रातुर्गृहेऽन्यस्य गृहे यथैव ।
तस्मादथो प्रेष्यजनप्रमादाद्भिक्षामलब्ध्वैव पुनर्जगाम ॥२५॥

वह अपने भाईके घरमें, जैसे किसी दूसरेके घरमें, मुँह नीचे किये हुए और स्नेह-रहित होकर खड़े रहे; तब नौकरोंकी गल्तीसे वहाँसे भिक्षा पाये विना ही वह लौट गये ॥२५॥

काचितिपपेषाङ्गविलेपनं हि वासोऽङ्गना काचिदवासयच्च ।
अयोजयत्स्नानविधिं तथान्या जग्रन्थुरन्याः सुरभीः स्रजश्च॥२६॥

क्योंकि कोई स्त्री अङ्गलेप पीस रही थी और कोई वस्त्रोंको सुगन्धित कर रही थी; दूसरी स्नान-विधिका आयोजन कर रही थी और दूसरी स्त्रियाँ सुगन्धित मालाएँ गूँथ रही थीं ।।२६।।

तस्मिन् गृहे भर्तुरतश्चरन्त्यः क्रीडानुरूपं ललितं नियोगं ।
काश्चिन्न बुद्धं ददृशुर्युवत्यो बुद्धस्य वैषा नियतं मनीषा ।।२७।।

उस घरमें युवती स्त्रियाँ स्वामीके क्रीड़ाके अनुरूप सुन्दर कार्य करनेमें लगी हुई थीं, उनमेंसे किसीने बुद्धको नहीं देखा या बुद्धकी ही ऐसी इच्छा थी (या बुद्धने निश्चय ही ऐसा ही सोचा)।।२७।।

काचित्स्थिता तत्र तु हर्म्यपृष्ठे गवाक्षपक्षे प्रणिधाय चक्षुः ।
विनिष्पतन्तं सुगतं ददर्श पयोदगर्भादिव दीप्तमर्कं ।।२८।।

प्रासादपर खड़ी एक स्त्री खिड़की की ओर देख रही थी। उसने बादलोंके भीतरसे निकलते हुए प्रज्वलित सूर्यके समान बुद्धको वहाँसे निकलते देखा ।।२८।।

सा गौरवं तत्र विचार्य भर्तुः स्वया च भक्त्यार्हतयार्हतश्च ।
नन्दस्य तस्थौ पुरतो विवक्षुस्तदाज्ञया चेति तदाचचक्षे ॥२९॥

स्वामीके गौरवका विचारकर और अपनी भक्ति तथा अर्हत् (जीवन्मुक्त, बुद्ध की) पूज्यता के कारण वह नंदके आगे निवेदन करनेकी इच्छासे खड़ी हुई और उसकी आज्ञा पाकर निवेदन किया ।।२९।।

अनुग्रहायास्य जनस्य शङ्के गुरुर्गृहं नो भगवान्प्रविष्टः ।
भिक्षामलब्ध्वा गिरमासनं वा शून्यादरण्यादिव याति भूयः॥३०॥

"हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए, मैं समझती हूँ, भगवान्

बुद्ध हमारे घरमें प्रविष्ट हुए थे; किंतु भिक्षा, वचन या आसन पाये बिना ही (हमारे यहाँ से) लौट रहे हैं, जैसे सूने जंगल से।" ॥३०॥

श्रुत्वा महर्षेः स गृहप्रवेशं सत्कारहीनं च पुनः प्रयाणं।
चचाल चित्राभरणाम्बरस्रक्कल्पद्रुमो धूत इवानिलेन ॥३१॥

महर्षिने घरमें प्रवेश किया था और सत्कारके विना ही लौट गये, यह सुनकर वायु से कँपाये गये कल्प-वृक्ष के समान चित्र-विचित्र आभूषण वस्त्र और मालाएँ धारण करनेवाला नंद काँपने लगा ॥३१॥

कृत्वाञ्जलिं मूर्धनि पद्मकल्पं ततः स कान्तां गमनं ययाचे।
कर्तुं गमिष्यामि गुरौ प्रणामं मामभ्यनुज्ञातुमिहार्हसीति ॥३२॥

तब मस्तक पर पद्म-तुल्य अञ्जलि बाँधकर उसने प्रियासे जानेकी आज्ञा माँगी—"गुरुको प्रणाम करनेके लिए जाऊँगा, इस विषयमें तुम्हें मुझे आज्ञा देनी चाहिए।" ॥३२॥

सा वेपमाना परिसस्वजे तं शालं लता वातसमीरितेव।
ददर्श चाश्रुप्लुतलोलनेत्रा दीर्घं च निश्वस्य वचोऽभ्युवाच ॥३३॥

(यह सुनकर) वह काँपने लगी और उसका आलिङ्गन किया, जैसे हवा से हिलाई गई लता शालवृक्ष का आलिङ्गन कर रही हो। अश्रुप्लावित चञ्चल आँखोंसे उसे देखकर लम्बी साँस लेती हुई वह बोली:—॥३३॥

नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडां।
गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः ॥३४॥

"आप गुरुके दर्शनार्थ जाना चाहते हैं, मैं आपके धर्ममें बाधा नहीं डाल सकती; हे आर्यपुत्र, जाओ और शीघ्र ही लौट आओ, जब तक यह विशेषक सूख न जाय ॥३४॥

सचेद्भवेस्त्वं खलु दीर्घसूत्रो दण्डं महान्तं त्वयि पातयेयं।
मुहुर्मुहुस्त्वां शयितं कुचाभ्यां विबोधयेयं च न चालपेयं ॥३५॥

यदि तुम देर करोगे तो तुम्हें भारी दण्ड दूँगी, जब तुम सोये रहोगे तब अपने कठोर कुचों (के प्रहार) से तुम्हें बार बार जगाऊँगी और बोलूँगी नहीं। ३५

अथाप्यनाश्यानविशेषकायां मय्येष्यसि त्वं त्वरितं ततस्त्वां।
निपीडयिष्यामि भुजद्वयेन निर्भूषणेनार्द्रविलेपनेन ॥३६॥

यदि मेरे विशेषकके सूखनेके पहले ही तुम शीघ्र आ जाओगे, तो आभूषण-रहित और गीला लेपवाली दोनों भुजाओं से तुम्हें आलिङ्गन करूँगी"। ३६

इत्येवमुक्तश्च निपीडितश्च तयासवर्णस्वनया जगाद।
एवं करिष्यामि विमुञ्च चण्डि यावद्गुरुर्दूरगतो न मे सः ॥३७॥

काँपती वाणीमें उसके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर और आलिङ्गन किये जानेपर नन्दने कहा—"ऐसा ही करूँगा, हे चण्डि, छोड़ो, मेरे वह गुरु दूर न चले जायँ।" ३७

ततः स्तनोद्वर्तितचन्दनाभ्यां मुक्तो भुजाभ्यां न तु मानसेन।
विहाय वेषं मदनानुरूपं सत्कारयोग्यं स वपुर्बभार ॥३८॥

तब स्तनों (की रगड़) से जिनका चन्दन खिसक (मिट) गया था उन बाहुओं (के बन्धन) से, न कि चित्तसे, मुक्त होकर उसने कामके अनुरूप वेषको छोड़ सत्कारके अनुरूप वेष धारण किया। ३८

सा तं प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनिश्चलाक्षी।
स्थितोच्चकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्तं मृगं भ्रान्तमुखी मृगीव ॥३९

चिन्ताके कारण उदास और निश्चल आँखोंसे वह (सुन्दरी) उस जाते हुए प्रियतमको ध्यानपूर्वक देखती रही, जैसे दूर जाते हुए

मृगके प्रति मुख घुमाये हुए मृगी कान खड़ाकर और (मुखके) तृणको गिराकर उसे देखती रहती है। ३९

दिदृक्षयाक्षिप्तमना मुनेस्तु नन्दः प्रयाणं प्रति तत्वरे च।
विवृत्तदृष्टिश्च शनैर्ययौ तां करीव पश्यन् स लडत्करेणुं ॥४०॥

मुनिको देखनेकी इच्छासे उत्कण्ठितचित्त होकर नन्दने जानेमें शीघ्रता की और जब सुन्दरीकी ओर दृष्टि घुमाई तो धीरे-धीरे जाने लगा, जैसे विलासिनी हथिनीको देखता हुआ हाथी धीरे-धीरे जाता है। ४०

छातोदरीं पीनपयोधरोरुं स सुन्दरीं रुक्मदरीमिवाद्रेः।
काक्षेण पश्यन्न ततर्प नन्दः पिबन्निवैकेन जलं करेण ॥४१॥

पहाड़की काञ्चन-गुफाके समान क्षीण उदर वाली पीन पयोधर वाली और मोटी जाँघ वाली सुन्दरीको अपनी आँखके कोनेसे देखता हुआ नन्द तृप्त नहीं हुआ, जैसे एक हाथसे पानी पीनेवाला तृप्त नहीं होता है। ४१

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥४२॥

बुद्ध की भक्तिने उसे (आगे की ओर) खींचा, फिर पत्नी के प्रेमने उसे (पीछे की ओर) खींचा। अनिश्चय के कारण वह न आगे ही गया और न खड़ा ही रहा, जैसे तरंगोंपर चलने-वाला राजहंस न आगे ही बढ़ता है और न स्थिर ही रहता है। ४२

अदर्शनं तूपगतश्च तस्या हर्म्यात्ततश्चावततार तूर्णं।
श्रुत्वा ततो नूपुरनिस्वनं स पुनर्ललम्बे हृदये गृहीतः॥४३॥

तब उसकी दृष्टिसे ओझल होकर वह महलसे शीघ्र ही उतर

गया, फिर नूपुरोंका शब्द सुनकर वह हृदयमें गृहीत होकर ठहर गया। ४३

स कामरागेण निगृह्यमाणो धर्मानुरागेण च कृष्यमाणः।
जगाम दुःखेन विवर्त्यमानः प्लवः प्रतिस्रोत इवापगायाः ॥४४॥

काम की आसक्तिसे बाँधा जाता हुआ और धर्मके अनुराग से (आगे) खींचा जाता हुआ, नदीकी प्रतिकूल धारामें (चलती) नावके समान (बार बार) मुड़ता हुआ, वह कष्टपूर्वक (आगे) गया। ४४

ततः क्रमैर्दीर्घतमैः प्रचक्रमे कथं नु यातो न गुरुर्भवेदिति।
स्वजेय तां चैव विशेषकप्रियां कथं प्रियामार्द्रविशेषकामिति॥४५॥

"गुरु दूर न चले जायँ और (शीघ्र ही लौटकर) उस विशेषक-प्रिय आर्द्रविशेषकवाली प्रियाका आलिङ्गन करूँ" ऐसा सोचकर वह तब अत्यन्त लम्बे पगोंसे (लपककर) जाने लगा। ४५

अथ स पथि ददर्श मुक्तमानं पितृनगरेऽपि तथागताभिमानं।
दशबलमभितो विलम्बमानं ध्वजमनुयान इवैन्द्रमर्च्यमानं॥४६॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये भार्यायाचितको नाम चतुर्थः सर्गः।

तब उसने मार्गमें दशबलधारी (बुद्ध) को देखा, जो पितृ-नगर में भी सम्मान और अभिमानसे रहित थे। वह (बुद्ध) ठहर-ठहर कर चारों ओर (जनतासे) पूजित होते हुए (जा रहे थे), जैसे कि जुलूस में इंद्र की ध्वजा। ४६

सौन्दरनन्द महाकाव्यका 'पत्नीकी अनुमति'
नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त

——

पञ्चम सर्ग

नन्दकी दीक्षा

अथावतीर्याश्वरथद्विपेभ्यः शाक्या यथास्वर्द्धि गृहीतवेषाः ।
महापणेभ्यो व्यवहारिणश्च महामुनौ भक्तिवशात्प्रणेमुः ॥१॥

तब घोड़ों रथों और हाथियोंसे उतरकर शाक्योंने, जिन्होंने अपनी अपनी सम्पत्तिके अनुसार वेष धारण किया था, तथा बड़ी बड़ी दूकानोंसे दूकानदारों (व्यापारियों) ने महामुनिको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । १

केचित्प्रणम्यानुययुर्मुहूर्तं केचित्प्रणम्यार्थवशेन जग्मुः ।
केचित्स्वकेष्वावसथेषु तस्थुः कृत्वाञ्जलीन्वीक्षणतत्पराक्षाः ॥२॥

कुछ लोग प्रणाम करके एक मुहूर्त तक उनके पीछे-पीछे गये, कुछ लोग प्रणाम करके कार्यवश (वहाँसे) चले गये, और कुछ लोग हाथ जोड़कर उन्हींकी ओर देखते हुए अपने घरोंमें खड़े रहे । २

बुद्धस्ततस्तत्र नरेन्द्रमार्गे स्रोतो महद्भक्तिमतो जनस्य ।
जगाम दुःखेन विगाहमानो जलागमे स्रोत इवापगायाः ॥३॥

तब बुद्ध उस राज-मार्ग पर भक्त जनता की बड़ी भीड़को चीरते हुए, मानो वर्षाके आनेपर नदीकी धारामें प्रवेश करते हुए, कठिनाईसे गये । ३

अथो महद्भिः पथि संपतद्भिः संपूज्यमानाय तथागताय ।
कर्तुं प्रणामं न शशाक नन्दस्तेनाभिरेमे तु गुरोर्महिम्ना ॥४॥

तब नन्द झुण्डके झुण्ड आते हुए बड़े-बड़े लोगोंसे रास्तेमें

पूजित होते बुद्धको प्रणाम न कर सका, किन्तु गुरुकी उस महिमासे उसे आनन्दही हुआ। ४

स्वं चावसङ्गं पथि निर्मुमुक्षुर्भक्तिं जनस्यान्यमतेश्च रक्षन्।
नन्दं च गेहाभिमुखं जिघृक्षन्मार्गं ततोऽन्यं सुगतः प्रपेदे ॥५॥

अपने साथके लोगोंसे मुक्त होनेकी इच्छा से और दूसरे मतके लोगोंकी भक्तिकी रक्षा करते हुए तथा गृहोन्मुख नन्दको पकड़नेकी इच्छासे सुगतने दूसरा रास्ता लिया। ५

ततो विविक्तं च विविक्तचेताः सन्मार्गविन्मार्गमभिप्रतस्थे।
गत्वाग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै नान्दीविमुक्ताय ननाम नन्दः ॥६॥

तब सन्मार्गको जानने वाले शान्तचित्त मुनि एकान्त मार्गपर आये और आगेसे जाकर उन श्रेष्ठ मुनिको, जो आनंदसे रहित थे, नंदने प्रणाम किया। ६

शनैर्व्रजन्नेव स गौरवेण पटावृतांसो विनतार्धकायः।
अधोनिबद्धाञ्जलिरूर्ध्वनेत्रः सगद्गदं वाक्यमिदं बभाषे ॥७॥

सम्मानपूर्वक धीरे धीरे जाते हुए नंदने जिसका कंधा कपड़ेसे ढका हुआ था, आधा शरीर झुकाकर नीचेकी ओर हाथ जोड़कर और ऊपरकी ओर नेत्र उठाकर गद्गद स्वरसे यह वाक्य कहा—७

प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तःप्रविष्टमश्रौषमनुग्रहाय।
अतस्त्वरावानहमभ्युपेतो गृहस्य कक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन् ॥८॥

जब मैं अपने महलमें था तब मैंने सुना कि भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह करनेकेलिए हमारे-घरमें प्रविष्ट हुए थे, इसलिए अपने बड़े घरके (नौकरोंके) प्रति रोष करता हुआ मैं शीघ्रतासे आपके समीप आया हूँ। ८

तत्साधु साधुप्रिय मत्प्रियार्थं तत्रास्तु भिक्षूत्तम भैक्षकालः ।
असौ हि मध्यं नभसो यियासुः कालं प्रतिस्मारयतीव सूर्यः ॥९॥

इसलिये हे साधुप्रिय, हे भिक्षु-श्रेष्ठ, मेरा प्रिय करनेकेलिए आपका भिक्षा-काल वहीं (मेरे घर) पर व्यतीत हो, आकाशके मध्य भागमें जानेकी इच्छा करने वाला वह सूर्य मानो (भिक्षा-) कालका स्मरण करा रहा है। ९

इत्येवमुक्तः प्रणतेन तेन स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन ।
तादृङ्निमित्तं सुगतश्चकार नाहारकृत्यं स यथा विवेद ॥१०॥

जब उसने नम्रतापूर्वक स्नेह और सम्मानके साथ आँखोंको ऊपर उठाकर इस प्रकार कहा, तब सुगतने ऐसा संकेत किया जिससे उसने समझा कि (उन्हें) भोजन नहीं करना है। १०

ततः स कृत्वा मुनये प्रणामं गृहप्रयाणाय मतिं चकार ।
अनुग्रहार्थं सुगतस्तु तस्मै पात्रं ददौ पुस्करपत्रनेत्रः ॥११॥

तब उसने मुनिको प्रणाम कर घर (लौट) जानेका विचार किया, किंतु कमलके पत्तोंके समान आँखों वाले सुगतने अनुग्रह करनेके लिये उसे अपना (भिक्षा-) पात्र दिया। ११

ततः स लोके ददतः फलार्थं पात्रस्य तस्याप्रतिमस्य पात्रं ।
जग्राह चापग्रहणक्षमाभ्यां पद्मोपमाभ्यां प्रयतः कराभ्यां ॥१२॥

तब संसारमें फल प्राप्त करनेकेलिये (पात्र) देने वाले उन अद्वितीय पात्र (बुद्ध) के पात्रको उसने अपने कमलोपम हाथोंसे, जो धनुष ग्रहण करने योग्य थे, संयमपूर्वक ग्रहण किया। १२

९—बौद्ध भिक्षु मध्याह्न-काल बीतनेके पहलेही भिक्षा माँग कर अपना भोजन कर लेते हैं।

पराङ्मुखन्त्वन्यमनस्कमाराद्विज्ञाय नन्दः सुगतं गतास्थं ।
हस्तस्थपात्रोऽपि गृहं यियासुः ससार मार्गान्मुनिमीक्षमाणः १३

सुगतको अन्यमनस्क अपनेसे विमुख तथा उदास जानकर, नंद हाथमें पात्र रहने पर भी घर जानेकी इच्छासे मुनिको देखता हुआ मार्गसे हटने लगा। १३

भार्यानुरागेण यदा गृहं स पात्रं गृहीत्वापि यियासुरेव ।
विमोहयामास मुनिस्ततस्तं रथ्यामुखस्यावरणेन तस्य ॥१४॥

प्रियाके अनुरागके कारण जब वह पात्र लेकर भी घर जानेकी इच्छा करने लगा, तब मुनिने उसके मार्गके मुख (मार्ग-द्वार, मार्ग-प्रवेश) को ढक कर उसे मोहमें डाल दिया। १४

निर्मोक्षबीजं हि ददर्श तस्य ज्ञानं मृदु क्लेशरजश्च तीव्रं ।
क्लेशानुकूलं विषयात्मकं च नन्दं यतस्तं मुनिराचकर्ष ॥१५॥

उसका ज्ञान मन्द है, क्लेशरूपी रज तीव्र है, वह क्लेशों (दोषों) के अनुकूल और विषयासक्त है, किंतु उसमें मोक्षका बीज वर्तमान है—यह देख कर ही मुनिने उसे आकृष्ट किया। १५

संक्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टस्तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।
आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ॥१६॥

क्लेश (दोष) दो प्रकारके देखे जाते हैं, उसी प्रकार शुद्धता (पवित्रता) भी दो प्रकारकी है जिसमें हेतु-बल (कुशल-मूल) की अधिकता है वह अपनेपर ही आश्रित होता है और जिसकेलिए बाहरी वस्तुओं (या सहारे) का महत्व अधिक है वह दूसरेपर आश्रित है। १६

१३—पा० 'पराङ् मुखस्०'

अयत्नतो हेतुबलाधिकस्तु निर्मुच्यते घट्टितमात्र एव।
यत्नेन तु प्रत्ययनेयबुद्धिर्विमोक्षमाप्नोति पराश्रयेण ॥१७॥

जिसमें हेतु-बलकी अधिकता है वह प्रेरित होते ही अनायास ही मुक्त हो जाता है, किंतु जिसकी बुद्धि बाहरी सहारे पर चलती है वह दूसरेके आश्रयसे कठिनाईसे मुक्ति प्राप्त करता है। १७

नन्दः स च प्रत्ययनेयचेता यं शिश्रिये तन्मयतामवाप।
यस्मादिमं तत्र चकार यत्नं तं स्नेहपङ्कान्मुनिरुज्जिहीर्षन् ॥१८॥

नन्दका चित्त बाहरी सहारेपर चलता था, वह जिस किसीका आश्रय लेता था, उसीमें तन्मय हो जाता था, इसलिए उसे स्नेहरूपी पङ्कसे उबारनेके लिए मुनिने यह यत्न किया। १८

नन्दस्तु दुःखेन विचेष्टमानः शनैरगत्या गुरुमन्वगच्छत्।
भार्यामुखं वीक्षणलोलनेत्रं विचिन्तयन्नार्द्रविशेषकं तत् ॥१९॥

दुःख से छटपटाता हुआ नन्द लाचार होकर धीरे धीरे गुरुके पीछे पीछे गया और (महलमें उसकी) प्रतीक्षामें चञ्चल आँखोंवाले तथा गीले विशेषकवाले पत्नी-मुखका ध्यान करता रहा। १९

ततो मुनिस्तं प्रियमाल्यहारं वसन्तमासेन कृताभिहारं।
निनाय भग्नप्रमदाविहारं विद्याविहाराभिमतं विहारं ॥२०॥

तब मुनि मालाओं और हारोंको चाहने वाले नन्दको, जिसपर वसन्त-ऋतु ने आक्रमण किया था और जिसका प्रमदाके साथ विहार करना नष्ट हो गया था, उस विहार (मठ) में ले गये जो विद्या में विहार करने वाले (ज्ञानियों) का प्यारा है। २०

१६-१७—हेतु-बल केलिए देखिये बु० च० दो ५६।
कुशल-मूल = राग द्वेष मोह का अभाव
= अराग, अद्वेष और अमोह।

दीनं महाकारुणिकस्ततस्तं दृष्ट्वा मुहूर्तं करुणायमानः।
करेण चक्राङ्कतलेन मूर्ध्नि पस्पर्श चैवेदमुवाच चैनं ॥२१॥

तब उस दुःखीकी ओर मुहूर्त भर देखकर महाकारुणिकने करुणा करते हुए चक्रके चिह्नसे युक्त हथेली वाले हाथसे उसके मस्तकपर स्पर्श किया और उसे यह वचन कहा :— २१

यावन्न हिंस्रः समुपैति कालः शमाय तावत्कुरु सौम्य बुद्धिं।
सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानं सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः॥२२॥

"हे सौम्य, जबतक घातक काल समीप नहीं आता है तब तक बुद्धि को शान्ति में लगाओ; (क्योंकि) मृत्यु इस संसारमें सब अवस्थाओंमें रहनेवालेकी सब प्रकारसे हत्या करती है। २२

साधारणात्स्वप्ननिभादसाराल्लोलं मनः कामसुखान्नियच्छ।
हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति ॥२३॥

स्वप्नके समान असार तथा (सर्व-) साधारण (सबके द्वारा उपभोग्य) काम-सुखसे अपने चञ्चल मनको रोको; क्योंकि जैसे वायु-प्रेरित अग्नि की (घृत आदि) हव्य-द्रव्योंसे तृप्ति नहीं होती वैसे ही संसारको कामोपभोगों से तृप्ति नहीं है। २३

श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः प्रज्ञारसस्तृप्तिकरो रसेभ्यः।
प्रधानमध्यात्मसुखं सुखेभ्योऽविद्यारतिर्दुःखतमारतिभ्यः ॥२४॥

धनों में श्रद्धारूपी धन श्रेष्ठ है, रसों में प्रज्ञारूपी रस तृप्ति-कर है, सुखोंमें अध्यात्म-सुख प्रधान है, और दुःखोंमें अज्ञान-दुःख अंत्यत दुःखदायी है। २४

२२—पा० 'वर्तमानः'।

हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यो धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः ।
ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः किमिन्द्रियाणामुपगम्य दास्यं ॥२५

हित (की बात) कहनेवाला (मित्र) मित्रों में श्रेष्ठ है, धर्मके लिए किया जानेवाला परिश्रम परिश्रमोंमें उत्कृष्ट है, ज्ञानके लिए किया जानेवाला कार्य कार्योंमें उत्तम है, इन्द्रियोंका दास होनेसे क्या लाभ ? २५

तन्निश्चिते भीक्लमशुग्वियुक्तं परेष्वनायत्तमहार्यमन्यैः ।
नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व किमिन्द्रियार्थार्थमनर्थमूढ्वा२६

इसलिये निश्चित नित्य और कल्याण-कारी शान्ति-सुखका वरण करो, जो भय थकावट और शोक-रहित है, जो दूसरोंके अधीन नहीं है और जो दूसरों द्वारा नहीं छीना जा सकता; विषयों के लिए विपत्ति उठानेसे क्या लाभ ? २६

जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः ।
मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्यामेतत्त्रयं खल्ववशेन सेव्यं॥२७

प्राणियोंके लिए बुढ़ापेके समान (रूप-विनाशक) और कोई गन्दगी नहीं है, संसारमें रोगके समान और कोई अनर्थ नहीं है तथा पृथ्वीपर मृत्युके समान कोई भय नहीं है; इन तीनोंको लाचार होकर भोगना ही पड़ता है । २७

स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि
रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्तच्चेत्त्रयं नास्तिसुखं च तेऽस्ति

स्नेह के समान कोई बन्धन नहीं है, तृष्णाके समान बहाले जाने वाली कोई धारा नहीं है और रागकी अग्निके समान कोई अग्नि नहीं है, इसलिए यदि ये तीन नहीं हैं तो तुम्हें सुख है । २८

अवश्यभावी प्रियविप्रयोगस्तस्माच्च शोको नियतं निषेव्यः।
शोकेन चोन्मादमुपेयिवांसो राजर्षयोऽन्येऽप्यवशा विचेलुः॥२९॥

प्रियका वियोग अवश्यंभावी है इसलिए शोक सहना (भोगना) ही पड़ेगा। शोकसे उन्मत्त होकर राजर्षिगण तथा दूसरे भी विवश होकर विचलित हुए। २९

प्रज्ञामयं वर्म बधान तस्मान्नो क्षान्तिनिघ्नस्य हि शोकबाणाः।
महच्च दग्धुं भवकक्षजालं संधुक्षयाल्पाग्निमिवात्मतेजः॥३०॥

इसलिए प्रज्ञा रूपी कवच पहन लो, क्योंकि जो धैर्यके अधीन है उसपर शोकरूपी तीरोंका वश नहीं चलता। महा-भव-जालको जलानेके लिए अपने तेजको प्रदीप्त करो, जैसे महान् तृण-राशिको जलानेके लिए थोड़ी सी आगको (प्रयत्नपूर्वक) प्रज्वलित किया जाता है। ३०

यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यो न दश्यते कश्चन पन्नगेन।
तथानपेक्षो जितलोकमोहो न दश्यते शोकभुजंगमेन॥३१॥

जिस प्रकार हाथमें औषधियोंके रहने पर कोई भी (सर्प-) विद्या जाननेवाला सर्पद्वारा नहीं डसा जाता है, उसी प्रकार निरपेक्ष व्यक्ति, जिसने संसारके मोहको जीत लिया है, शोकरूपी सर्पद्वारा नहीं डसा जाता है। ३१

आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं न त्रासमागच्छति मृत्युकाले।
आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रो जिगीषया शूर इवाहवस्थः॥३२॥

योगाभ्यास द्वारा तत्त्वको जानकर मनुष्य मृत्यु-काल में संत्रस्त नहीं होता है, जैसे कवच पहनकर सुन्दर धनुष और अस्त्र लेकर विजयेच्छु वीर पुरुष युद्धमें उतरकर भयभीत नहीं होता है"। ३२

इत्येवमुक्तः स तथागतेन सर्वेषु भूतेष्वनुकम्पकेन ।
धृष्टं गिरान्तर्हृदयेन सीदंस्तथेति नन्दः सुगतं बभाषे ।।३३।।

सब जीवों पर दया करनेवाला तथागत द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर दुःखी हृदयसे किंतु उत्साहपूर्ण वाणीसे नन्दने सुगतको कहा "अच्छा" । ३३

अथ प्रमादाच्च तमुज्जिहीर्षन्मत्वागमस्यैव च पात्रभूतं ।
प्रव्राजयानन्द शमाय नन्दमित्यब्रवीन्मैत्रमना महर्षिः ।।३४।।

तब प्रमाद (अविवेक, अज्ञान) से उसका उद्धार करनेकी इच्छासे और उसको धर्मका पात्र हुआ जान कर महर्षि ने मैत्रीपूर्ण चित्तसे कहा—"आनन्द, नन्दको उसकी शान्तिके लिए प्रव्रजित करो" ।

नन्दं ततोऽन्तर्मनसा रुदन्तमेहीति वैदेहमुनिर्जगाद ।
शनैस्ततस्तं समुपेत्य नन्दो न प्रव्रजिष्याम्यहमित्युवाच ।।३५।।

तब मन ही मन रोते हुए नन्दको वैदेह मुनि (आनन्द) ने कहा—"आओ" । तब शनैः शनैः उसके समीप जाकर नन्दने कहा—"मैं प्रव्रजित न होऊँगा" ।३५

श्रुत्वाथ नन्दस्य मनीषितं तद्बुद्धाय वैदेहमुनिः शशंस ।
संश्रुत्य तस्मादपि तस्य भावं महामुनिर्नन्दमुवाच भूयः ।।३६।।

तब नंदका यह अभिप्राय सुनकर वैदेह मुनिने बुद्धसे कहा । उससे भी नंद का (वह) भाव सुनकर महामुनिने पुनः नंदको कहाः—

मय्यग्रजे प्रव्रजितेऽजितात्मन्
भ्रातृष्वनुप्रव्रजितेषु चास्मान् ।
ज्ञातींश्च दृष्ट्वा व्रतिनो गृहस्थान्
संविन्न किं तेऽस्ति न वास्ति चेतः ।।३७।।

"हे असंयतात्मा, मुझ अग्रज के प्रव्रजित होने पर, हमारे पीछे

अपने भाइयोंके प्रव्रजित होनेपर तथा अपने जाति बन्धुओंको घर में ही रहकर व्रत पालन करते देखकर क्या तुम्हें ज्ञान (का उदय) ही नहीं होता है या तुम्हें चित्त ही नहीं है ? ३७

राजर्षयस्ते विदिता न नूनं वनानि ये शिश्रियिरे हसन्तः ।
निष्ठीव्य कामानुपशान्तिकामाः कामेषु नैवं कृपणेषु सक्ताः ।।३८।।

अवश्य ही तुम उन राजर्षियों को नहीं जानते हो, जिन्होंने हँसते हँसते वनका आश्रय लिया। उन्होंने शान्ति पानेकी इच्छासे कामोपभोगोंका तिरस्कार किया, वे तुच्छ कामोपभोगोंमें इस प्रकार आसक्त नहीं थे। ३८

भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान्निशाम्य तत्त्यागकृतं च शर्म ।
नैवास्ति मोक्तुं मतिरालयं ते देशं मुमूर्षोरिव सोपसर्गं ।।३९।।

फिर घरके दोषों तथा उसके त्यागसे होनेवाली शांतिको देखकर तुम घर छोड़नेका विचार नहीं करते हो, जैसे कि मृत्युकी इच्छा करनेवाला (मरणासन्न) व्यक्ति उपद्रव-युक्त स्थानको नहीं छोड़ना चाहता है। ३९

संसारकान्तारपरायणस्य शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा ।
आरोप्यमाणस्य तमेव मार्गं भ्रष्टस्य सार्थादिव सार्थिकस्य।।४०।।

संसाररूपी बीहड़ वनमें लीन होकर तुम, काफिलेसे भटके हुए बनियेके समान, कल्याण-कारी मार्ग पर चढ़ाया जानेपर भी क्यों नहीं चढ़ना चाहते हो ? ४०

यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने शयीत मोहान्न ततो व्यपेयात् ।
कालाग्निना व्याधिजराशिखेन लोके प्रदीप्ते स भवेत्प्रमत्तः।।४१।।

जो चारों ओर जलते हुए घरमें मोहवश सोये और उससे नहीं

३७—पा० संविन्न चित्तेऽस्ति'।

भागे वही मनुष्य रोग और जरारूपी लपटोंवाली कालाग्निसे प्रज्वलित संसारमें असावधान रहेगा। ४१

प्रणीयमानश्च यथा वधाय मत्तो हसेच्च प्रलपेच्च वध्यः।
मृत्यौ तथा तिष्ठति पाशहस्ते शोच्यः प्रमाद्यन्विपरीतचेताः ४२

जिस प्रकार वधके लिए (वध्य-भूमिकी ओर) लिवाया जाता हुआ वध्य व्यक्ति मत्त (नशेमें चूर) होकर हँसता और प्रलाप करता है उसी प्रकार हाथमें पाश लेकर मृत्युके वर्तमान रहते प्रमाद (असावधानी) करनेवाला विपरीतबुद्धि मनुष्य शोक करने योग्य है। ४२

यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च।
ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति चैव प्रियेष्वनित्येषु कुतोऽनुरोधः४३

जबकि राजा लोग और परिवारवाले अपने बन्धुओं और परिग्रहोंको छोड़कर चले गये चले जायँगे और चले जा रहे हैं तब क्यों अनित्य प्रिय वस्तुओंमें अनुराग (आसक्ति) किया जाय? ४३

किंचिन्न पश्यामि रतस्य यत्र तदन्यभावेन भवेन्न दुःखं।
तस्मात्क्वचिन्न क्षमते प्रसक्तिर्यदि क्षमस्तद्विगमान्न शोकः ॥४४॥

मैं ऐसा कुछ नहीं देख रहा हूँ जिसमें आसक्त होनेवाले को उस (चीज) के अन्यथा होने पर दुःख न हो। इसलिए किसी में भी आसक्त होना उचित नहीं; यदि उचित होता तो उसका वियोग होने से शोक नहीं होता। ४४

तत्सौम्य लोलं परिगम्य लोकं मायोपमं चित्रमिवेन्द्रजालं।
प्रियाभिधानं त्यज मोहजालं छेत्तुं मतिस्ते यदि दुःखजालं ॥४५॥

इसलिए, हे सौम्य, संसार को अस्थिर, माया के समान, और

४३—'अनुरोध' के लिये देखिये बु० च० नौ ३६।

इन्द्रजालके समान विचित्र जानकर यदि तुम्हारा विचार दुःख-जाल को काटनेका है तो प्रिया नामक मोह-जाल का परित्याग करो। ४५

वरं हितोदर्कमनिष्टमन्नं न स्वादु यत्स्यादहितानुबद्धं।
यस्मादहं त्वा विनियोजयामि शिवे शुचौ वर्त्मनि विप्रियेऽपि ४६

हितकारी भोजन अप्रिय (होने पर भी) अच्छा है न कि स्वादिष्ठ भोजन जो कि अहितकारी है। इसीलिए मैं तुम्हें मङ्गलमय पवित्र मार्ग में अप्रिय होने पर भी, लगा रहा हूँ। ४६

बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्टं यथोद्धरत्यास्यपुटप्रविष्टं।
तथोज्जिहीर्षुः खलु रागशल्यं तत्त्वामवोचं परुषं हिताय ।।४७।।

जिस प्रकार धाई बालकको पकड़कर उसके मुख में घुसे हुए ढेले को बाहर निकालती है, उसी प्रकार (तुम्हारे हृदय में गड़े हुए) रागरूपी शल्यको निकालनेकी इच्छासे मैंने यह कठोर वचन तुम्हारे हितके लिए कहा। ४७

अनिष्टमप्यौषधमातुराय ददाति वैद्यश्च यथा निगृह्य।
तद्वन्मयोक्तं प्रतिकूलमेतत्तुभ्यं हितोदर्कमनुग्रहाय ।।४८।।

जिस प्रकार वैद्य रोगी को पकड़कर अप्रिय (कटु) ओषधि भी देता है उसी प्रकार मैंने यह अप्रिय किन्तु हितकारी वचन तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करके कहा है। ४८

तद्यावदेव क्षणसंनिपातो न मृत्युरागच्छति यावदेव।
यावद्वयो योगविधौ समर्थं बुद्धिं कुरु श्रेयसि तावदेव ।।४६।।

इसलिए जब तक कि (कुछ ही क्षणोंका) यह जीवन रहता है, जब तक कि मृत्यु (समीप) नहीं आती है, जब तक कि उम्र (शरीर) योगाभ्यास करनेमें समर्थ है तब तक अपनी बुद्धि को श्रेय में लगाओ।" ४६

इत्येवमुक्तः स विनायकेन हितैषिणा कारुणिकेन नन्दः ।
कर्तास्मि सर्वं भगवन्वचस्ते तथा यथाज्ञापयसीत्युवाच ॥५०॥

हितैषी और कारुणिक विनायक (बुद्ध) के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर नन्दने कहा—"आपके आज्ञानुसार मैं आपके वचन का पूरा पूरा पालन करूँगा ।" ५०

आदाय वैदेहमुनिस्ततस्तं निनाय संश्लिष्य विचेष्टमानं ।
व्ययोजयच्चाश्रुपरिप्लुताक्षं केशश्रियं छत्रनिभस्य मूर्ध्नः ॥५१॥

तब वैदेह मुनि उस छटपटाते हुए (अनिच्छुक) को पकड़कर वहाँसे ले गये और उस रोते हुए (अश्रु-प्लावित आँखोंवाले) के छत्र-तुल्य मस्तककी केश-शोभाको अलग किया । ५१

अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु ।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवावभासे ॥५२॥

केशों के काटे जाते समय उसका झुका हुआ अश्रु-पूर्ण मुख ऐसे शोभित हुआ जैसे पोखर में वर्षा के जल से भींगा हुआ कमल जिसके नाल का अग्र-भग झुक गया हो । ५२

नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासा-
श्चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्रः ।
पूर्णः शशी बहुलपक्षगतः क्षपान्ते
बालातपेन परिषिक्त इवावभासे ॥५३॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये नन्दप्रव्राजनो नाम पञ्चमः सर्गः ।

तब विरक्तों (भिक्षुओं) का काषाय वस्त्र पहनकर नन्द हाल में

५२—पा० 'अधोघृतं' ।

ही पकड़े गये गजेन्द्रके समान चिन्ताके वशीभूत हो गया और ऐसे शोभित हुआ जैसे कृष्ण-पक्षमें गया हुआ पूर्ण चन्द्रमा जो कि रात्रिके अन्तमें बाल सूर्यकी किरणोंसे सिक्त हो रहा हो। ५३

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "नन्दकी दीक्षा"
नामक पञ्चम सर्ग समाप्त।

षष्ठ सर्ग

भार्या-विलाप

ततो हृते भर्तरि गौरवेण प्रीतौ हृतायामरतौ कृतायां ।
तत्रैव हर्म्योपरि वर्तमाना न सुन्दरी सैव तदा बभासे ।।१।।

तब बुद्धकी भक्ति द्वारा पतिका अपहरण होनेपर, प्रसन्नताके नष्ट होनेपर और बेचैनीके उत्पन्न होनेपर उसी महलपर रहती हुई, वही सुन्दरी शोभित नहीं हुई। १

सा भर्तुरभ्यागमनप्रतीक्षा गवाक्षमाक्रम्य पयोधराभ्यां ।
द्वारोन्मुखी हर्म्यतलाल्ललम्बे मुखेन तिर्यङ्नतकुण्डलेन ।।२।।

पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करती हुई, गवाक्षपर स्तनोंको रखकर द्वारकी ओर मुख करके, वह महलपर से लटकने लगी और उसके कुण्डल तिरछे होकर झुक गये। २

विलम्बहारा चलयोक्त्रका सा तस्माद्विमानाद्विनता चकाशे ।
तपःक्षयादप्सरसां वरेव च्युतं विमानात्प्रियमीक्षमाणा ।।३।।

उसके हार लटकने लगे, योक्त्रक (कण्ठ-सूत्र ?) हिलने लगे, उस महलसे झुकी हुई वह ऐसे दिखाई पड़ी जैसे तपस्या क्षीण होनेपर (स्वर्गके) प्रासादसे गिरे हुए अपने प्रियतमको देख रही कोई श्रेष्ठ अप्सरा। ३

सा खेदसंस्विन्नललाटकेन निश्वासनिष्पीतविशेषकेण ।
चिन्ताचलाक्षेण मुखेन तस्थौ भर्तारमन्यत्र विशङ्कमाना ।।४।।

श्रमके कारण उसके ललाटपर पसीना निकल आया, साँसोंसे

उसका विशेषक सूख गया, चिन्तासे उसकी आँखें (स्थिर (या चञ्चल) थीं, वह अपने पतिके किसी दूसरी जगह होनेकी शङ्का करती रही। ४

ततश्चिरस्थानपरिश्रमेण स्थितैव पर्यङ्कतले पपात ।
तिर्यक्च शिश्ये प्रविकीर्णहारा सपादुकैकार्धविलम्बपादा ॥५॥

तब देर तक खड़ी रहनेसे थककर वह खड़ी खड़ी ही पलंग पर गिर पड़ी और तिरछी होकर सोयी, उसके हार बिखर गये, वह जूतियाँ पहने थी और उसके पाँवों का आधा भाग लटक रहा था। ५

अथात्र काचित्प्रमदा सबाष्पां तां दुःखितां द्रष्टुमनीप्समाना ।
प्रासादसोपानतलप्रणादं चकार पद्भ्यां सहसा रुदन्ती ॥६॥

तब कोई स्त्री, जो उसके आँसू और दुःख को नहीं देखना चाहती थी, सहसा ही रोने लगी और अपने पाँवों से महलकी सीढ़ीपर (धमधम) शब्द किया। ६

तस्याश्च सोपानतलप्रणादं श्रुत्वैव तूर्णं पुनरुत्पपात ।
प्रीत्यां प्रसक्तैव च संजहर्ष प्रियोपयानं परिशङ्कमाना ॥७॥

महलकी सीढ़ीपर उसने जो शब्द किया उसे सुनकर वह शीघ्र ही उठ गई और प्रियतम आ रहे हैं, यह सोचती हुई वह आनन्द-विभोर होकर रोमाञ्चित हो गई। ७

सा त्रासयन्ती वलभीपुटस्थान् पारावतान्नूपुरनिस्वनेन ।
सोपानकुक्षिं प्रससार हर्षाद्भ्रष्टं दुकूलान्तमचिन्तयन्ती ॥८॥

अपने नूपुरोंके शब्दसे छतपर रहनेवाले कबूतरोंको डराती हुई तथा आनन्दके कारण गिरे हुए वस्त्रके अञ्चल का खयाल नहीं करती हुई वह सीढ़ीके ऊपर तेजीसे पहुँच गई। ८

५—पा० 'सपादुकैवार्ध०'।

तामङ्गनां प्रेक्ष्य च विप्रलब्धा निश्वस्य भूयः शयनं प्रपेदे ।
विवर्णवक्त्रा न रराज चाशु विवर्णचन्द्रेव हिमागमे द्यौः ॥६॥

उस स्त्रीको देखकर वह वञ्चित (हताश) हो गई और (लम्बी) साँसें लेकर फिर से बिछावन पर चली गई। उसका मुख विवर्ण (उदास) हो गया और वह शोभित नहीं हुई, जैसे कि हिमऋतु के आने पर चन्द्रमा विवर्ण (फीका) हो जाता है और आकाश शोभित नहीं होता है । ६

सा दुःखिता भर्तुरदर्शनेन कामेन कोपेन च दह्यमाना ।
कृत्वा करे वक्त्रमुपोपविष्टा चिन्तानदीं शोकजलां ततार ॥१०॥

पतिका दर्शन नहीं होनेसे वह दुःखित थी और काम एवं कोपसे जल रही थी। हाथपर मुख रखकर वह बैठी बैठी शोकरूप जल वाली चिन्तारूपी नदी में तैरने लगी । १०

तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ॥११॥

लाल पल्लवके समान ताम्रवर्ण हाथपर रखा हुआ उसका पद्म-तुल्य मुख ऐसे शोभित हुआ, जैसे जलमें पड़ने वाले कमलके प्रति-बिम्ब के ऊपर झुका हुआ कमल । ११

सा स्त्रीस्वभावेन विचिन्त्य तत्तद्दृष्टानुरागेऽभिमुखेऽपि पत्यौ ।
धर्माश्रिते तत्त्वमविन्दमाना संकल्प्य तत्तद्विललाप तत्तत् ॥१२॥

अपने स्त्री-स्वभाव के कारण उसने तरह तरह की चिन्ताएँ कीं; यद्यपि उसका पति उसमें अनुरक्त और उसके अनुकूल था तो भी वह धर्मकी शरणमें चला गया था, इस सत्यको नहीं जानकर उस (सुन्दरी) ने बहुत-से संकल्प-विकल्प किये और भाँति भाँतिसे विलाप किया। १२

एष्याम्यनाश्यानविशेषकायां त्वयीति कृत्वा मयि तां प्रतिज्ञां।
कस्मान्नु हेतोर्दयितप्रतिज्ञः सोऽद्य प्रियो मे वितथप्रतिज्ञः ॥१३

"तुम्हारा विशेषक सूखनेके पहले ही आ जाऊँगा, मुझसे ऐसी प्रतिज्ञा करके क्यों वह मेरे प्रिय, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा प्रिय है, आज अपनी प्रतिज्ञाको असत्य कर रहे हैं? १३

आर्यस्य साधोः करुणात्मकस्य मन्नित्यभीरोरतिदक्षिणस्य।
कुतो विकारोऽयमभूतपूर्वः स्वेनापरागेण ममापचारात् ॥१४॥

वह आर्य साधु करुणात्मक मुझसे हमेशा डरनेवाले और मेरे अत्यन्त अनुकूल रहनेवाले हैं। कहाँसे उन्हें यह अभूतपूर्व विकार (भाव-परिवर्तन) हुआ? उनके अपनेही वैराग्यसे? या मेरेही किसी दोषसे? १४

रतिप्रियस्य प्रियवर्तिनो मे प्रियस्य नूनं हृदयं विरक्तं।
तथापि रागो यदि तस्य हि स्यान्मच्चित्तरक्षी न स नागतः स्यात् १५

मेरे प्रियका, जिन्हें रति (काम) प्रिय है और जो मेरे प्रिय करनेवाले हैं, हृदय अवश्यही विरक्त हो गया है। क्योंकि यदि उन्हें मुझसे अनुराग होता तो मेरे चित्त (इच्छा) की रक्षा करनेवाले वह नहीं आते, ऐसा नहीं होता। १५

रूपेण भावेन च मद्विशिष्टा प्रियेण दृष्टा नियतं ततोऽन्या।
तथा हि कृत्वा मयि मोघसान्त्वं लग्नां सतीं मामगमद्विहाय १६

निश्चयही मेरे प्रियने रूप और भावमें मुझसे बढ़ी-चढ़ी किसी दूसरी (स्त्री) को देखा है; क्योंकि मुझे व्यर्थही सान्त्वना देकर मुझ अनुरक्त सतीको छोड़कर वह चले गये। १६

भक्तिं स बुद्धं प्रति यामवोचत्तस्य प्रयातुं मयि सोऽपदेशः।
मुनौ प्रसादो यदि तस्य हि स्यान्मृत्योरिवोग्रादनृताद्बिभीयात् १७

उन्होंने बुद्धके प्रति अपनी जो भक्ति बतलाई वह तो यहाँसे चले जानेका बहाना ही था; क्योंकि यदि मुनिमें उनकी भक्ति होती तो वह मृत्युके समान भयङ्कर असत्यसे डरते। १७

सेवार्थमादर्शनमन्यचित्तो विभूषयन्त्या मम धारयित्वा।
बिभर्ति सोऽन्यस्य जनस्य तं चेन्नमोऽस्तु तस्मै चलसौहृदाय १८

मेरे सिंगार करते समय अपने चित्तमें किसी दूसरीको रख कर (या अनन्य-चित्त होकर) मेरी सेवाके लिए दर्पण धारण करके यदि अब वह किसी दूसरी (स्त्री) का ही दर्पण धारण कर रहे हैं तो मैं उस अस्थिर प्रेमको प्रणाम करती हूँ। १८

नेच्छन्ति याः शोकमवाप्तुमेवं श्रद्धातुमर्हन्ति न ता नराणां।
क्व चानुवृत्तिर्मयि सास्य पूर्वं त्यागः क्व चायं जनवत्क्षणेन।१९

जो (स्त्रियाँ) इस प्रकारका शोक प्राप्त करना नहीं चाहती हैं उन्हें पुरुषोंका विश्वास नहीं करना चाहिए। कहाँ वह मेरे प्रति उनकी पहलेकी अनुकूलता और कहाँ यह क्षण भरमें ही साधारण व्यक्तिकी तरह (मेरा) परित्याग!" १९

इत्येवमादि प्रियविप्रयुक्ता प्रियेऽन्यदाशङ्क्य च सा जगाद।
संभ्रान्तमारुह्य च तद्विमानं तां स्त्री सबाष्पा गिरमित्युवाच २०

प्रियसे वियुक्त हुई सुन्दरी प्रियके विषयमें कुछ दूसरी ही आशङ्का करके ऐसा ही बहुत कुछ बोली और उस महल पर तेजीसे चढ़कर उस स्त्रीने आँसू बहाते हुए यह वचन कहा :—२०

युवापि तावत्प्रियदर्शनोऽपि सौभाग्यभाग्याभिजनान्वितोऽपि।
यस्त्वां प्रियो नाभ्यचरत्कदाचित्तमन्यथा यास्यतिकातरासि २१

"युवा सुन्दर सौभाग्यशाली और कुलीन होकर भी उन प्रियने

१८—पा० 'मादर्शमनन्यचित्तो'। २०—पा० 'सा स्त्री'।

तुम्हारा कभी अतिक्रमण नहीं किया और तुम उन्हें अन्यथा समझ रही हो, यह तुम्हारी अतिदीनता है। २१

मा स्वामिनं स्वामिनि दोषतो गाः प्रियं प्रियार्हं प्रियकारिणं तं।
न स त्वदन्यां प्रमदामवैति स्वचक्रवाक्या इव चक्रवाकः ॥२२॥

हे स्वामिनि, उन प्रिय, प्रियके योग्य और प्रिय करनेवाले स्वामीको दोष मत दो; वह आपके सिवा किसी दूसरी स्त्रीको नहीं जानते हैं, जैसे कि चक्रवाक अपनी चक्रवाकीके अतिरिक्त किसी दूसरी (चक्रवाकी) को नहीं जानता है। २२

स तु त्वदर्थं गृहवासमीप्सन् जिजीविषुस्त्वत्परितोषहेतोः।
भ्रात्रा किलार्येण तथागतेन प्रव्राजितो नेत्रजलार्द्रवक्त्रः ॥२३॥

वह आपके लिए घरमें रहना चाहते हैं, आपके संतोषकेलिए जीवित रहना चाहते हैं, किन्तु भ्राता आर्य तथागतने उन अश्रु-जलसे आर्द्र मुखवालेको प्रव्रजित कर दिया है।" २३

श्रुत्वा ततो भर्तरि तां प्रवृत्तिं सवेपथुः सा सहसोत्पपात।
प्रगृह्य बाहू विरुराव चोच्चैर्हृदीव दिग्धाभिहता करेणुः ॥२४॥

तब पतिका वह समाचार सुनकर वह एकाएक काँपती हुई उछल पडी और बाहुओंको फैलाकर, हृदयमें विष-लिप्त तीरसे घायल हुई हथिनीके समान, जोरसे रोई। २४

सा रोदनारोषितरक्तदृष्टिः संतापसंक्षोभितगात्रयष्टिः।
पपात शीर्णाकुलहारयष्टिः फलातिभारादिव चूतयष्टिः ॥२५॥

रोते रोते उसकी आँखें लाल हो गई, संतापसे उसके शरीरमें क्षोभ हुआ। फलोंके अतिशय भारसे जैसे आमकी डाली टूट पड़ती है वैसे ही वह गिर पड़ी और उसके हार अस्त-व्यस्त होकर बिखर गये। २५

सा पद्मरागं वसनं वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी ।
पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः शुशोष पद्मस्रगिवातपेन ॥२६॥

वह कमलके समान लाल वस्त्र पहने हुए थी, उसका मुख कमलके समान था, उसकी आँखें कमलके पत्तोंके समान लाल थीं। वह वैसे ही गिर पड़ी जैसे कि पद्म धारण करनेवाली लक्ष्मी पद्म-रहित होकर गिर पड़े और वह वैसे ही कुम्हलाने लगी जैसे कि धूपमें पद्मोंकी माला। २६

संचिन्त्य संचिन्त्य गुणांश्च भर्तुर्दीर्घं निशश्वास तताम चैव ।
विभूषणश्रीनिहिते प्रकोष्ठे ताम्रे कराग्रे च विनिर्दुधाव ॥२७॥

पतिके गुणोंका बार बार स्मरण कर, लम्बी साँसें लेती हुई वह मूर्च्छित हुई। आभूषणोंकी शोभाके निधान-स्वरूप प्रकोष्ठों और ताम्र-वर्ण हाथोंको कँपाने लगी। २७

न भूषणार्थो मम संप्रतीति सा दिक्षु चिक्षेप विभूषणानि ।
निर्भूषणा सा पतिता चकाशे विशीर्णपुष्पस्तबका लतेव ॥२८॥

अब मुझे आभूषणोंसे प्रयोजन नहीं है, यह कह कर उसने अपने आभूषणोंको सभी दिशाओंमें फेंक दिया आभूषण-रहित होकर पड़ी हुई वह ऐसे शोभित हुई जैसे कि लता जिसके फूलोंके गुच्छे झड़ गये हों। २८

धृतः प्रियेणायममभून्ममेति रुक्मत्सरुं दर्पणमालिलिङ्गे ।
यत्नाच्च विन्यस्ततमालपत्रौ रुष्टेव धृष्टं प्रममार्ज गण्डौ ॥२९॥

'प्रियने इसे मेरे लिए धारण किया था' यह कहकर उसने सुवर्ण की मूँठ वाले दर्पणका आलिङ्गन किया और अपने कपोलों

को जिस पर यत्नपूर्वक विशेषक की रचना की थी, क्रुद्ध-जैसी होकर जोरसे पोंछ डाला। २६

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका।
विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः ॥३०॥

बाजके द्वारा चक्रवाकके पंखोंका अग्रभाग घायल होने पर चक्रवाकी तरह वह कूजने लगी, मानो प्रासादपर रहनेवाले कूजन-प्रिय कबूतरोंसे (कूजनमें) होड़ कर रही हो। ३०

विचित्रमृद्वास्तरणेऽपि सुप्ता वैडूर्यवज्रप्रतिमण्डितेऽपि।
रुक्माङ्गपादे शयने महार्हे न शर्म लेभे परिचेष्टमाना ॥३१॥

यद्यपि वह रंग-बिरंगे कोमल आवरण (चादर) से ढके हुए, वैदूर्य व वज्रसे मढ़े हुए, सुवर्ण-पादवाले, बहुमूल्य पलंग पर लेटी हुई थी, तो भी वह छटपटाती ही रही और उसे चैन नहीं मिला। ३१

संदृश्य भर्तुश्च विभूषणानि वासांसि वीणाप्रभृतींश्च लीलाः।
तमो विवेशाभिननाद चोच्चैः पङ्कावतीर्णेव च संससाद ॥३२॥

पति के आभूषणों वस्त्रों और वीणा आदि लीला (मनोरञ्जन) की वस्तुओंको देखकर वह शोकाकुल हुई, जोरसे रोई और कीचड़ में फँसी हुई के समान विषण्ण (दुःखी) हुई। ३२

सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्निसंभिन्नदरीगुहेव।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव ॥३३॥

वज्रकी अग्निसे जिसका भीतरी भाग फट गया हो उस गुफा के समान उस सुन्दरीके उदरमें साँसोंके (तेजीसे चलनेके) कारण उत्कम्प होने लगा। शोकाग्निसे उसका हृदय जलने लगा। उस समय उसका चित्त स्थिर नहीं रहा। ३३

२६—'तमालपत्र-तिलक-चित्रकाणि विशेषकम्'—अमरकोष।

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रं ॥३४॥

वह रोई, कुम्हलाई, चिल्लाई, इधर-उधर घूमी, खड़ी रही, विलाप किया, ध्यान (चिन्ता) किया, क्रोध किया, मालाओंको बिखेरा, (दाँतोंसे) अपने मुखको काटा और वस्त्र को चीरा। ३४

तां चारुदन्तीं प्रसभं रुदन्तीं संश्रुत्य नार्यः परमाभितप्ताः।
अन्तर्गृहादारुरुहुर्विमानं त्रासेन किन्नर्य इवाद्रिपृष्ठं ॥३५॥

वह सुन्दर दाँतवाली जोरसे रो रही है, यह सुनकर स्त्रियाँ अत्यन्त सन्तप्त हुईं; और घरके भीतरसे महल पर चढ़ गईं; जैसे डरी हुई किन्नरियाँ पर्वत पर चढ़ रही हों। ३५

बाष्पेण ताः क्लिन्नविषण्णवक्त्रा वर्षेण पद्मिन्य इवार्द्रपद्माः।
स्थानानुरूपेण यथाभिमानं निलिल्यिरे तामनुदह्यमानाः ॥३६॥

अश्रु-जलसे उन (स्त्रियों) के विवर्ण मुख भींग गये थे, जैसे वर्षाके जलसे पोखरोंके कमल आर्द्र हो गये हों। उसके दुःख में संतप्त होती हुई वे अपनी अपनी स्थिति और सम्मान के अनुसार बैठ गईं। ३६

ताभिर्वृता हर्म्यतलेऽङ्गनाभिश्चिन्तातनुः सा सुतनुर्बभासे।
शतह्रदाभिः परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये ॥३७॥

महलपर उन स्त्रियोंसे घिरी हुई वह चिन्ताक्षीण सुन्दरी ऐसे शोभित हुई, जैसे शरत्कालीन बादलके भीतर बिजलियोंसे घिरी हुई चाँदनी। ३७

या तत्र तासां वचसोपपन्ना मान्या च तस्या वयसाधिका च।
सा पृष्ठतस्तां तु समालिलिङ्गे प्रमृज्य चाश्रूणि वचांस्युवाच॥३८॥

वहाँ उन सबके बीच जो माननीया उम्रमें बड़ी और बोलनेमें

चतुर थी उसने उसका पीछेसे आलिङ्गन किया और उसके आँसुओं को पोछकर ये वचन कहे:—३८

राजर्षिवध्वास्तव नानुरूपो धर्माश्रिते भर्तरि जातु शोकः।
इक्ष्वाकुवंशे ह्यभिकाङ्क्षितानि दायाद्यभूतानि तपोवनानि ॥३६॥

"तुम राजर्षिकी पत्नी हो, अपने पतिके धर्मकी शरणमें जानेपर तुम्हारे लिए शोक करना उचित नहीं है। इक्ष्वाकु-वंशमें (उत्पन्न राजाओंके लिए) तपोवन पैतृक सम्पत्ति-स्वरूप हैं और अभीष्ट हैं।३६

प्रायेण मोक्षाय विनिःसृतानां शाक्यर्षभाणां विदिताः स्त्रियस्ते।
तपोवनानीव गृहाणि यासां साध्वीव्रतं कामवदाश्रितानां ॥४०॥

मोक्षके लिए निकले हुए शाक्य-श्रेष्ठोंकी स्त्रियोंको प्रायः जानती ही हो जिनके लिए घर तपोवनके समान थे और जिन्होंने साध्वी स्त्री के व्रतको कामोपभोगकी तरह ग्रहण किया। ४०

यद्यन्यया रूपगुणाधिकत्वाद्भर्ता हृतस्ते कुरु बाष्पमोक्षं।
मनस्विनी रूपवती गुणाढ्या हृदि क्षते कात्र हि नाश्रु मुञ्चेत् ॥४१॥

यदि किसी दूसरी स्त्रीने अपने रूप और गुणोंकी अधिकताके कारण तुम्हारे पतिका हरण कर लिया है तो आँसू बहाओ, क्योंकि हृदयमें घायल होनेपर कौन मनस्विनी रूपवती और गुणवती स्त्री आँसू नहीं बहायेगी ? ४१

अथापि किंचिद्व्यसनं प्रपन्नो मा चैव तद्भूत्सदृशोऽत्र बाष्पः।
अतो विशिष्टं न हि दुःखमस्ति कुलोद्गतायाः पतिदेवतायाः॥४२

या यदि वह किसी विपत्तिमें पड़ गये हैं, ऐसा कभी न हो (भगवान् न ऐसा करे) तो इसके लिए रोना उचित ही है; क्योंकि कुलीन पतिदेवता स्त्रीके लिए इससे बढ़कर दुःख नहीं है। ४२

अथ त्विदानीं लडितः सुखेनः स्वस्थः फलस्थो व्यसनान्यदृष्ट्वा ।
वीतस्पृहो धर्ममनुप्रपन्नः किं विक्लवा रोदिषि हर्षकाले ॥४३

किन्तु सुखी स्वस्थ और भोगोंके बीच रहते हुए; विपत्तियोंको देखे विना ही, इच्छा-रहित होकर वह अब धर्मकी शरणमें चले गये हैं। तब हर्षके समयमें क्यों विकल होकर रो रही हो" ? ४३

इत्येवमुक्तापि बहुप्रकारं स्नेहात्तया नैव धृतिं चकार ।
अथापरा तां मनसोऽनुकूलं कालोपपन्नं प्रणयादुवाच ॥४४॥

इस तरह उसके द्वारा अनेक प्रकारसे स्नेहपूर्वक कहे जानेपर भी उसे धैर्य नहीं हुआ। तब दूसरी स्त्रीने उसके मनके अनुकूल तथा समयके उपयुक्त प्रेमपूर्वक यों कहाः—४४

ब्रवीमि सत्यं सुविनिश्चितं मे प्राप्तं प्रियं द्रक्ष्यसि शीघ्रमेव ।
त्वया विना स्थास्यति तत्र नासौ सत्त्वाश्रयश्चेतनयेव हीनः ४५

"मैं निश्चत सत्य कहती हूँ कि तुम्हारे प्रिय आयेंगे और उन्हें तुम शीघ्र ही देखोगी। तुम्हारे विना वह वहाँ नहीं रह सकते जैसे कि चेतना से हीन शरीर नहीं रह सकता। ४५

अङ्केऽपि लक्ष्म्या न स निर्वृतः स्यात्
त्वं तस्य पार्श्वे यदि तत्र न स्याः ।
आपत्सु कृच्छ्रास्वपि चागतासु
त्वां पश्यतस्तस्य भवेन्न दुःखं ॥४६॥

लक्ष्मी की गोदमें भी वह सुखी नहीं होंगे यदि वहाँ उनके बगलमें तुम न रहो। और, दारुण विपत्तियोंके आने पर भी तुम्हें देखते हुए उन्हें दुःख न होगा। ४६

४३—पा० 'विक्लवे'।

त्वं निर्वृतिं गच्छ नियच्छ बाष्पं तप्ताश्रुमोक्षात्परिरक्ष चक्षुः
यस्तस्य भावस्त्वयि यश्च रागो न रंस्यते त्वद्विरहात्स धर्मे ४७

तुम शान्त होओ, रोना बन्द करो गर्म आँसू बहानेसे आँखोंको बचाओ। तुममें उनका जो भाव है, और जो अनुराग है (उससे तो यही कहना पड़ता है कि) तुम्हारे विरहमें उन्हें धर्ममें रति (आनन्द) नहीं होगी। ४७

स्यादत्र नासौ कुलसत्त्वयोगात्काषायमादाय विहास्यतीति।
अनात्मनादाय गृहोन्मुखस्य पुनर्विमोक्तुं क इवास्ति दोषः ॥४८

यदि यह कहें कि अपने कुल और सत्त्वके कारण वह काषाय वस्त्र ग्रहण करके न छोड़ेंगे तो अनिच्छापूर्वक ग्रहण करके घर (लौट जाने) की इच्छा करनेवालेके लिए पुनः छोड़ देनेमें कौन-सा दोष है ? ४८

इति युवतिजनेन सान्त्व्यमाना
हृतहृदया रमणेन सुन्दरी सा।
द्रमिडमभिमुखी पुरेव रम्भा
क्षितिमगमत्परिवारिताप्सरोभिः ॥४९॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये भार्याविलापो नाम षष्ठः सर्गः।

युवतियोंके द्वारा इस प्रकार सान्त्वना दी जाने पर वह सुन्दरी, जिसके हृदयको उसके प्रियने हर लिया था, अपने निवासमें चली गई, जैसे प्राचीन कालमें अप्सराओंसे घिरी हुई रम्भा द्रमिडको खोजती हुई पृथ्वीपर चली आई। ४९

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "भार्या-विलाप"
नामक षष्ठ सर्ग समाप्त।

सप्तम सर्ग

नन्द-विलाप

लिङ्गं ततः शास्तृविधिप्रदिष्टं गात्रेण बिभ्रन्न तु चेतसा तत् ।
भार्यागतैरेव मनोवितर्कैर्जेह्रीयमाणो न ननन्द नन्दः ॥१॥

शास्ताके विधान द्वारा निर्दिष्ट (शास्त्र-सम्मत) उस वेषको नन्द शरीरसे न कि चित्तसे धारण कर रहा था । भार्या-विषयक मानसिक विचारोंमें डूबे रहनेके कारण उसे आनन्द नहीं हुआ । १

स पुष्पमासस्य च पुष्पलक्ष्म्या सर्वाभिसारेण च पुष्पकेतोः ।
यानीयभावेन च यौवनस्य विहारसंस्थो न शमं जगाम ॥२॥

वसन्त ऋतुकी फूलोंकी शोभाके कारण, कामदेवके सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण और जवानीकी उमंगोंके कारण विहारमें रहते हुए भी उसे शान्ति नहीं मिली । २

स्थितः स दीनः सहकारवीथ्यामालीनसंमूर्छितषट्पदायां ।
भृशं जजृम्भे युगदीर्घबाहुर्ध्यात्वा प्रियां चापमिवाचकर्ष ॥३॥

आमके बागमें, जहाँ बहुतसे भ्रमर बैठे हुए थे, वह बेचारा खड़ा था और प्रियाको स्मरण कर जुएके समान लम्बी भुजाओं (को फैला कर) वालेने बार बार जँभाई ली, जान पड़ा जैसे धनुष खींच रहा हो । ३

स पीतकक्षोदमिव प्रतीच्छन् चूतद्रुमेभ्यस्तनुपुष्पवर्षं ।
दीर्घं निशश्वास विचिन्त्य भार्यां नवग्रहो नाग इवावरुद्धः ॥४॥

आमके वृक्षोंसे गिरते हुए नन्हें नन्हें फूलोंकी वर्षा से, जैसे

कुङ्कुम चूर्णकी वृष्टिसे, सिक्त होते हुए उसे अपनी पत्नीका खयाल हो गया और घेरा डालकर हालमें ही पकड़े गये हाथीके समान उसने लम्बी साँसें लीं। ४

शोकस्य हर्ता शरणागतानां शोकस्य कर्ता प्रतिगर्वितानां।
अशोकमालम्ब्य स जातशोकः प्रियां प्रियाशोकवनां शुशोच ॥५॥

जो शरणागतोंका शोक हरण करनेवाला और अभिमानियोंको शोक देनेवाला था वह (स्वयं) शोकित होकर अशोक वृक्षका सहारा लेकर अशोक-वनको चाहनेवाली अपनी प्रियाके लिए शोक करने लगा। ५

प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गुं निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्पः प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदातां ॥६॥

प्रियाकी प्यारी कोमल प्रियङ्गु-लताको, जो मानो भयभीत होकर निकल रही थी, देख कर उसने प्रियङ्गुके फूलके समान निर्मल वर्ण-वाली उस अश्रुमुखी प्रियाको रोते हुए स्मरण किया। ६

पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टां।
संकल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः ॥ ७

तिलक नामक वृक्षके फूलोंसे भरे हुए शिखरपर कोयलको बैठी देखकर उसने अट्टालिकापर खड़ी सफेद वस्त्रवाली प्रियाकी शिखाकी कल्पना की। ७

लतां प्रफुल्लामतिमुक्तकस्य चूतस्य पार्श्वे परिरभ्य जातां।
निशाम्य चिन्तामगमत्तदैवं श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति ॥८॥

अतिमुक्तककी कुसुमित लता आमके पेड़के पासही में उत्पन्न

८—पा० 'कदैवं'। ९—पा० 'पुष्पैः कराला'।

होकर उसे आलिङ्गन कर रही थी, यह देखकर उसने सोचा 'सुन्दरी मुझे भी ऐसेही आलिङ्गन करती ! ८

पुष्पोत्कराला अपि नागवृक्षा दान्तैः समुद्गैरिव हेमगर्भैः ।
कान्तारवृक्षा इव दुःखितस्य न चक्षुराचिक्षिपुरस्य तत्र ।।९।।

सोनेसे भरे हुए हाथी-दाँतके संपुटोंके समान फूलोंसे शोभित नाग वृक्षोंने, बीहड़ वनके वृक्षोंके समान, उस दुःखितकी दृष्टिको आकृष्ट नहीं किया । ९

गन्धं वमन्तोऽपि च गन्धपर्णा गन्धर्ववेश्या इव गन्धपूर्णाः ।
तस्यान्यचित्तस्य शुगात्मकस्य घ्राणं न जह्रुर्हृदयं प्रतेपुः ।।१०।।

गन्धर्व वेश्याओंके समान सुगन्धिसे भरे हुए गन्धपर्ण वृक्षोंने सुगन्धि फैलाते हुए भी उस अन्यमनस्क और शोकाकुलके घ्राणको आकृष्ट (आनन्दित) नहीं किया, प्रत्युत उसके हृदयको संतप्त किया । १०

संरक्तकण्ठैश्च विनीलकण्ठैस्तुष्टैः प्रहृष्टैरपि चान्यपुष्टैः ।
लेलिह्यमानैश्च मधु द्विरेफैः स्वनद्वनं तस्य मनो नुनोद ।।११।।

अनुरक्त कण्ठ (मधुर स्वर) वाले मयूरों, संतुष्ट व प्रसन्न कोकिलों तथा मधु चाटते हुए भ्रमरों से गूँजते हुए उस वनने उसके चित्तको चञ्चल कर दिया । ११

स तत्र भार्यारणिसंभवेन वितर्कधूमेन तमःशिखेन ।
कामाग्निनान्तर्हृदि दह्यमानो विहाय धैर्यं विललाप तत्तत् ।१२।

भार्या रूपी अरणिसे उत्पन्न हुई चिन्तारूपी धुआँवाली तथा शोकरूपी ज्वालावाली कामाग्निसे हृदयमें जलते हुए उसने धैर्य छोड़ कर बहुत विलाप किया :—१२

अद्यावगच्छामि सुदुष्करं ते चक्रुः करिष्यन्ति च कुर्वते च।
त्यक्त्वा प्रियामश्रुमुखीं तपो ये चेरुश्चरिष्यन्ति चरन्ति चैव १३

"आज मैं समझता हूँ कि उन्होंने बड़ा दुष्कर कार्य किया, करेंगे और करते हैं, जिन्होंने अश्रुमुखी प्रियाको छोड़कर तप किया है, करेंगे और करते हैं। १३

तावद्दृढं बन्धनमस्ति लोके न दारवं तान्तवमायसं वा।
यावद्दृढं बन्धनमेतदेव मुखं चलाक्षं ललितं च वाक्यं ॥१४॥

संसारमें काठ, डोरी या लोहेका बन्धन उतना दृढ़ नहीं है जितना कि चञ्चल आँखोंवाला मुख और ललित वाणी। १४

छित्त्वा च भित्त्वा च हि यान्ति तानि स्वपौरुषाच्चैव सुहृद्बलाच्च।
ज्ञानाच्च रौक्ष्याच्च विना विमोक्तुं न शक्यते स्नेहमयस्तु पाशः १५

अपने पौरुष और मित्रोंके बलसे उन बन्धनोंको छिन्न-भिन्न करके लोग निकल जाते हैं, किन्तु यह स्नेहमय बन्धन ज्ञान और रूखेपनके विना नहीं छोड़ा (तोड़ा) जा सकता है। १५

ज्ञानं न मे तच्च शमाय यत्स्यान्न चास्ति रौक्ष्यं करुणात्मकोऽस्मि।
कामात्मकश्चास्मि गुरुश्चबुद्धःस्थितोऽन्तरे चक्रगतेरिवास्मि १६

मुझे ज्ञान नहीं है जिससे कि शान्ति होती है और न रूखापन ही है मैं तो दयालु प्रकृतिका हूँ। (एक ओर तो) मैं कामासक्त हूँ और (दूसरी ओर) मेरे गुरु बुद्ध हैं, मैं मानो (रथके) दो चक्कोंके बीचमें स्थित हूँ। १६

अहं गृहीत्वापि हि भिक्षुलिङ्गं भ्रातृषिणा द्विर्गुरुणानुशिष्टः।
सर्वास्ववस्थासु लभे न शान्तिं प्रियावियोगादिव चक्रवाकः १७

यद्यपि मैंने भिक्षु-वेष धारण कर लिया है और उनके द्वारा जो (ज्येष्ठ) भ्राता और ऋषि होनेके कारण दो प्रकारसे मेरे गुरु हैं,

उपदिष्ट हुआ हूँ, किन्तु किसी भी अवस्था में, अपनी प्रियासे विछुड़े हुए चकवेके समान, शान्ति नहीं पा रहा हूँ। १७

अद्यापि तन्मे हृदि वर्तते च यद्दर्पणे व्याकुलिते मया सा।
कृतानृतक्रोधकमब्रवीन्मां कथं कृतोऽसीति शठं हसन्ती ॥१८॥

मेरे द्वारा दर्पण आविल (गंदा) किया जानेपर उसने झूठा क्रोध करके दुष्टतापूर्वक हँसते हुए कहा था 'कैसे हो गये हो' यह वाक्य अब भी मेरे हृदयमें वर्तमान है। १८

यथैष्यनाश्यानविशेषकायां मयीति यन्मामवदच्च साश्रु।
पारिप्लवाक्षेण मुखेन बाला तन्मे वचोऽद्यापि मनो रुणद्धि ॥१९॥

उस बालिकाने डबडबाई आँखोंसे रोते हुए मुझे जो कहा था 'मेरा विशेषक सूखनेके पहले ही जिसमें आ जाना' वह वचन अब भी मेरे मनको व्यथित कर रहा है। १९

बद्ध्वासनं पर्वतनिर्झरस्थः स्वस्थो यथा ध्यायति भिक्षुरेषः।
सक्तः क्वचिन्नाहमिवैष नूनं शान्तस्तथा तृप्त इवोपविष्टः ॥२०॥

पहाड़के झरनेपर आसन बाँधकर यह भिक्षु निर्विकार होकर जिस प्रकार ध्यान कर रहा है, अवश्य ही यह मेरे समान किसीमें आसक्त नहीं है, शान्त है और मानो (सब भोगोंमें) तृप्त होकर बैठा हुआ है। २०

पुंस्कोकिलानामविचिन्त्य घोषं वसन्तलक्ष्म्यामविचार्य चक्षुः।
शास्त्रं यथाभ्यस्यति चैष युक्तः शङ्के प्रियाकर्षति नास्य चेतः॥२१॥

कोकिलोंकी ध्वनिका खयाल न करके और वसन्तकी शोभाकी ओर दृष्टिपात न करके यह जिस मनोयोगके साथ शास्त्रका अभ्यास कर रहा है, मैं समझता हूँ प्रिया इसके चित्तको आकृष्ट नहीं कर रही है। २१

अस्मै नमोऽस्तु स्थिरनिश्चयाय निवृत्तकौतूहलविस्मयाय।
शान्तात्मनेऽन्तर्गतमानसाय चङ्क्रम्यमाणाय निरुत्सुकाय।।२२।।

नमस्कार है इसको जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसका कौतूहल और औद्धत्य नष्ट हो गया है, जिसकी आत्मा शान्त है, जिसका चित्त भीतरकी ओर मुड़ा हुआ है और जो उत्सुकता-रहित होकर टहल रहा है। २२

निरीक्षमाणस्य जलं सपद्मं वनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टं।
कस्यास्ति धैर्यं नवयौवनस्य मासे मधौ धर्मसपत्नभूते ॥२३॥

धर्मके शत्रुस्वरूप मधुमासमें पद्मयुक्त जलाशय और कोकिलोंसे सेवित कुसुमित वनको देखकर (इस भिक्षुके समान) किस नवयुवक का धैर्य बना रहेगा ? २३

भावेन गर्वेण गतेन लक्ष्म्या स्मितेन कोपेन मदेन वाग्भिः।
जह्रुः स्त्रियो देवनृपर्षिसंघान् कस्माद्धि नास्मद्विधमाक्षिपेयुः।।२४।।

भाव गर्व गति सौन्दर्य मुस्कान कोप मद और वाणी द्वारा स्त्रियोंने देवर्षियों और राजर्षियोंको वशीभूत किया है, फिर मेरे-जैसेको कैसे आकृष्ट नहीं करेंगी ? २४

कामाभिभूतो हि हिरण्यरेताः स्वाहां सिषेवे मघवानहल्यां।
सत्त्वेन सर्गेण च तेन हीनः स्त्रीनिर्जितः किं बत मानुषोऽहं।।२५।।

कामसे पीड़ित हिरण्यरेता ने स्वाहाका सेवन किया और इन्द्रने अहल्या का। तब उस उत्साह और निश्चयसे हीन एवं स्त्रीके वशीभूत मुझ मनुष्यका क्या कहना ? २५

सूर्यः सरण्यूं प्रति जातरागस्तत्प्रीतये तष्ट इति श्रुतं नः।
यामश्वभूतोऽश्ववधूं समेत्य यतोऽश्विनौ तौ जनयांबभूव ।।२६।।

सरण्यूके प्रति अनुरक्त होकर सूर्यने उसकी प्रसन्नताकेलिए

अपनेको तराशा (अर्थात् अपना तेज क्षीण किया), ऐसा हमलोगोंने सुना है और घोड़ा होकर घोड़ीके रूपमें उसके साथ संगम करके दो अश्विनी कुमारोंको जन्म दिया। २६

स्त्रीकारणं वैरविषक्तबुद्ध्योर्वैवस्वताग्न्योश्चलितात्मधृत्योः।
बहूनि वर्षाणि बभूव युद्धं कः स्त्रीनिमित्तं न चलेदिहान्यः ॥२७॥

स्त्रीके कारण धैर्यसे विचलित होकर वैवस्वत और अग्नि शत्रुताकी बुद्धिसे युक्त हुए तथा बहुत वर्षों तक आपसमें युद्ध किया। तब दूसरा कौन व्यक्ति इस संसारमें स्त्रीके निमित्त विचलित नहीं होगा? २७

भेजे श्वपाकीं मुनिरक्षमालां कामाद्वसिष्ठश्च स सद्वरिष्ठः।
यस्यां विवस्वानिव भूजलादः सुतः प्रसूतोऽस्य कपिञ्जलादः ॥२८॥

साधुओंमें श्रेष्ठ मुनि वसिष्ठने काम-वासनाके कारण चण्डाल जातिकी अक्षमालाके साथ सम्भोग किया, जिससे उसे सूर्यके समान तेजस्वी (भूजलाद) पुत्र कपिञ्जलाद उत्पन्न हुआ। २८

पराशरः शापशरस्तथर्षिः कालीं सिषेवे झषगर्भयोनिं।
सुतोऽस्य यस्यां सुषुवे महात्मा द्वैपायनो वेदविभागकर्ता ॥२९॥

शापरूपी तीर (छोड़ने) वाले ऋषि पराशरने मछलीके गर्भसे उत्पन्न कालीका सेवन किया जिससे उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ—महात्मा द्वैपायन, जिसने वेदोंका विभाग किया। २९

द्वैपायनो धर्मपरायणश्च रेमे समं काशिषु वेश्यवध्वा।
यया हतोऽभूच्चलनूपुरेण पादेन विद्युल्लतयेव मेघः ॥३०॥

और धर्म-परायण द्वैपायनने काशीमें वेश्याके साथ रमण किया,

२८—भूजलाद = पृथ्वीसे पानी सोखनेवाला (सूर्य), मिट्टी खाकर और पानी पीकर रहनेवाला (कपिञ्जलाद)।

जिसने उसे चञ्चल नूपुरवाले पाँवसे मारा जैसे कि विजली मेघपर प्रहार करती है। ३०

तथाङ्गिरा रागपरीतचेताः सरस्वतीं ब्रह्मसुतः सिषेवे।
सारस्वतो यत्र सुतोऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुनःप्रवक्ता ॥३१॥

उसी प्रकार ब्रह्माके पुत्र अङ्गिराने कामासक्त-चित्त होकर सरस्वतीका सेवन किया, जिससे उसे सारस्वत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने नष्ट हुए वेदोंको फिरसे कहा। ३१

तथा नृपर्षेर्दिलिपस्य यज्ञे स्वर्गस्त्रियां काश्यप आगतास्थः।
स्रुचं गृहीत्वा स्रवदात्मतेजश्चिक्षेप वह्नावसितो यतोऽभूत् ॥३२॥

राजर्षि दिलीपके यज्ञमें काश्यप स्वर्गकी स्त्रीके प्रति अनुरक्त हो गया और स्रुवा लेकर अपने झरते हुए तेजको अग्निमें फेंका जिससे असितका जन्म हुआ। ३२

तथाङ्गदोऽन्तं तपसोऽपि गत्वा कामाभिभूतो यमुनामगच्छत्।
धीमत्तरं यत्र रथीतरं स सारङ्गजुष्टं जनयांबभूव ॥३३॥

अङ्गद तपस्याके अन्त तक पहुँचकर भी कामसे पीड़ित हो यमुनाके समीप गया, जिससे बुद्धिमान् तथा मृगोंसे सेवित (तपस्वी) रथीतर का जन्म हुआ। ३३

निशाम्य शान्तां नरदेवकन्यां वनेऽपि शान्तेऽपि च वर्तमानः।
चचाल धैर्यान्मुनिऋर्ष्यश्रृङ्गः शैलो महीकम्प इवोच्चश्रृङ्गः ३४

राजकन्या शान्ताको देखकर तपोवनमें शान्तिपूर्वक (पवित्रता-पूर्वक) रहता हुआ मुनि ऋष्यश्रृङ्ग धैर्यसे विचलित हो गया, जैसे भूकम्पमें ऊँचा शिखर वाला पर्वत काँपने लगता है। ३४

३३—"तपोवन-मृगोंकी जीभोंसे चाटे जाते हुए बूढ़े हो गये"— इ० च० पञ्चम उच्छ्वास।

ब्रह्मर्षिभावार्थमपास्य राज्यं भेजे वनं यो विषयेष्वनास्थः।
स गाधिजश्चापहृतो घृताच्या समा दशैकं दिवसं विवेद ३५

ब्रह्मर्षि होनेकेलिए जिसने राज्य छोड़कर और विषयोंसे विरक्त होकर वनका आश्रय लिया वह गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) घृताची (अप्सराके) वशीभूत हुआ और उसने (उसके साथ रहते हुए) दस वर्षको एक दिवस समझा । ३५

तथैव कन्दर्पशराभिमृष्टो रम्भां प्रति स्थूलशिरा मुमूर्छ ।
यः कामरोषात्मतयानपेक्षः शशाप तामप्रतिगृह्यमाणः ॥३६॥

उसी प्रकार कामदेवके तीरसे घायल (स्पृष्ट) होकर स्थूलशिरा रम्भाके प्रति मूर्च्छित हुआ और उसके द्वारा स्वीकृत नहीं होनेपर काम व क्रोधसे अन्धा होकर उसने रम्भाको शाप दे दिया । ३६

प्रमद्वरायां च रुरुः प्रियायां भुजंगमेनापहृतेन्द्रियायां ।
संदश्य संदश्य जघान सर्पान्प्रियं न रोषेण तपो ररक्ष ॥३७॥

अपनी प्रिया प्रमद्वराके (ज्ञान-) इन्द्रिय सर्प द्वारा नष्ट होनेपर रुरुने खोज खोजकर सर्पोंकी हत्या की और क्रोधके कारण अपनी प्रिय तपस्याकी रक्षा नहीं की । ३७

नप्ता शशाङ्कस्य यशोगुणाङ्को बुधस्य सूनुर्विबुधप्रभावः ।
तथोर्वशीमप्सरसं विचिन्त्य राजर्षिरुन्मादमगच्छदैडः ॥३८॥

चन्द्रमाका नाती, बुधका पुत्र, देवताके समान प्रभावशाली, यशस्वी और गुणवान् राजर्षि ऐड उर्वशी अप्सराका चिन्तन कर उन्मत्त हो गया । ३८

रक्तो गिरेर्मूर्धनि मेनकायां कामात्मकत्वाच्च स तालजङ्घः ।
पादेन विश्वावसुना सरोषं वज्रेण हिन्ताल इवाभिजघ्ने ॥३९॥

पर्वतके शिखरपर मेनकाके प्रति अपनी कामासक्तिके कारण

वह तालजङ्घ अनुरक्त हो गया और विश्वावसुने क्रोधपूर्वक अपने पाँवसे उसपर प्रहार किया, जैसे कि वज्र हिन्ताल वृक्षपर आघात करता है। ३९

नाशं गतायां परमाङ्गनायां गङ्गाजलेऽनङ्गपरीतचेताः।
जह्नुश्च गङ्गां नृपतिर्भुजाभ्यां रुरोध मैनाक इवाचलेन्द्रः ४०

गंगाके जलमें अपनी उत्तम पत्नीके नष्ट होने (डूब मरने) पर राजा जह्नुने कामाभिभूत होकर पर्वत-श्रेष्ठ मैनाकके समान अपनी भुजाओंसे गंगाको रोक लिया। ४०

नृपश्च गङ्गाविरहाज्जुघूर्ण गङ्गाम्भसा साल इवात्तमूलः।
कुलप्रदीपः प्रतिपस्य सूनुः श्रीमत्तनुः शन्तनुरस्वतन्त्रः ॥४१॥

प्रतिपका पुत्र, अपने कुलका प्रदीप-स्वरूप, सुन्दर शरीर वाला राजा शन्तनु अपनी पत्नी गंगासे बिछुड़ कर अधीर हो ऐसे चक्कर काटने लगा, जैसे कि सालका वृक्ष जिसकी जड़ गङ्गाके जलसे उखड़ गयी हो। ४१

हृतां च सौनन्दकिनानुशोचन्प्राप्तामिवोर्वीं स्त्रियमुर्वशीं तां।
सद्वृत्तवर्मा किल सोमवर्मा बभ्राम चित्तोद्भवभिन्नवर्मा ॥४२॥

सौनन्दकीके द्वारा अपनी पत्नी उस उर्वशीका, मानो अपनी अर्जित पृथ्वीका, अपहरण होनेपर सदाचाररूपी कवच धारण करनेवाला सोमवर्मा, जिसका कवच कामदेव द्वारा विदीर्ण हो गया, पत्नीकेलिए शोक करता हुआ (पृथ्वीपर) घूमने लगा। ४२

भार्यां मृतां चानुममार राजा भीमप्रभावो भुवि भीमकः सः।
बलेन सेनाक इति प्रकाशः सेनापतिर्देव इवात्तसेनः ॥४३॥

वह राजा भीमक—जिसका प्रभाव पृथ्वीपर भयङ्कर था, जो अपने बलके कारण सेनाक नामसे विख्यात था और जो सेनापति

देवेन्द्रके समान (महती) सेनाका अधिकारी था—अपनी भार्याके मरने पर (स्वयं भी) मर गया। ४३

स्वर्गं गते भर्तरि शन्तनौ च कालीं जिहीर्षन् जनमेजयः सः।
अवाप भीष्मात्समवेत्य मृत्युं न तद्गतं मन्मथमुत्ससर्ज ॥४४॥

वह जनमेजय, जो काली (मत्स्यगंधा) के पति शन्तनुके स्वर्गीय होनेपर कालीको (अपनी पत्नी बनानेकेलिए) हरण करना चाहता था, भीष्मसे भिड़कर मृत्युको प्राप्त हुआ, किन्तु अपनी काम-वासना को नहीं छोड़ा। ४४

शप्तश्च पाण्डुर्मदनेन नूनं स्त्रीसंगमे मृत्युमवाप्स्यसीति।
जगाम माद्रीं न महर्षिशापादसेव्यसेवी विममर्श मृत्युं ॥४५॥

मदनने पाण्डुको शाप दिया—"स्त्रीके साथ सङ्गम करने पर तुम अवश्य मृत्युको प्राप्त होगे।" वह माद्रीके पास गया। उस असेव्य-सेवीने महर्षिके शापके कारण मृत्युका चिन्तन नहीं किया। ४५

एवंविधा देवनृपर्षिसङ्घाः स्त्रीणां वशं कामवशेन जग्मुः।
धिया च सारेण च दुर्बलः सन्प्रियामपश्यन् किमु विक्लवोऽहं ॥४६

ऐसे देवर्षियों और राजर्षियोंके समूह कामके अधीन हो स्त्रियोंके वशीभूत हुए। मैं बुद्धि और शक्तिमें हीन हूँ, तब अपनी प्रियाको नहीं देखनेके कारण मेरी विह्वलताका क्या पूछना ? ४६

यास्यामि तस्माद्गृहमेव भूयः कामं करिष्ये विधिवत्सकामं।
न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्च्युतस्य ॥४७

इसलिए घरको ही लौट जाऊँगा और इच्छानुसार यथाविधि कामोपभोग करूँगा; क्योंकि जिसका चित्त अन्यत्र है, जिसके इन्द्रिय चञ्चल हैं और जो धर्मके मार्गसे च्युत है उसकेलिए भिक्षु-वेष धारण करना उचित नहीं है। ४७

पाणौ कपालमवधाय विधाय मौण्ड्यं
मानं निधाय विकृतं परिधाय वासः ।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति
चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्ति चैव ॥४८॥

हाथमें भिक्षा-पात्र लेकर, शिर मुँड़ाकर, अभिमानका परित्याग कर और काषाय वस्त्र पहनकर जो उत्तेजनाके अधीन है, जिसको न धैर्य है न शान्ति वह चित्र-लिखित प्रदीपके समान (देखनेमें तो भिक्षु) है और (वास्तवमें भिक्षु) नहीं है। ४८

यो निःसृतश्च न च निःसृतकामरागः
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः ।
पात्रं बिभर्ति च गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ॥४९॥

जो (घरसे) निकल गया है किन्तु जिसका काम-राग नहीं निकला है, जो काषाय वस्त्र पहनता है किंतु जिसका कषाय (चित्त-मल) नष्ट नहीं हुआ है, जो (भिक्षाका) पात्र धारण करता है किंतु जो सद्गुणोंका पात्र नहीं हुआ है वह (भिक्षु-) वेष धारण करता हुआ भी न गृहस्थ है न भिक्षु । ४९

न न्याय्यमन्वयवतः परिगृह्य लिङ्गं
भूयो विमोक्तुमिति योऽपि हि मे विचारः ।
सोऽपि प्रणश्यति विचिन्त्य नृपप्रवीरां-
स्तान्ये तपोवनमपास्य गृहाण्यतीयुः ॥५०॥

कुलीन व्यक्तिकेलिए भिक्षु-वेष ग्रहण करके फिरसे छोड़ना उचित नहीं, यह जो मेरा विचार है वह भी नष्ट हो जाता है यह सोच-कर कि वे वीर नृपति तपोवन छोड़कर अपने घरोंको लौट गये । ५०

शाल्वाधिपो हि ससुतोऽपि तथाम्बरीषो
रामोऽन्ध एव स च सांकृतिरन्तिदेवः ।
चीराण्यपास्य दधिरे पुनरंशुकानि
छित्त्वा जटाश्च कुटिला मुकुटानि बभ्रुः ॥५१॥

पुत्र-सहित शाल्वराज, अम्बरीष, अन्ध राम और उस सांकृति अंतिदेवने वल्कल छोड़कर वस्त्र धारण किये और कुटिल जटाएँ काटकर मुकुट पहने । ५१

तस्माद्भिक्षार्थं मम गुरुरितो यावदेव प्रयात-
स्त्यक्त्वा काषायं गृहमहमितस्तावदेव प्रयास्ये ।
पूज्यं लिङ्गं हि स्खलितमनसो बिभ्रतः क्लिष्टबुद्धे-
र्नामुत्रार्थः स्यादुपहतमतेर्नाप्ययं जीवलोकः ॥५२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये नन्दविलापो नाम सप्तमः सर्गः ।

इसलिए ज्योंही मेरे गुरु यहाँसे भिक्षाके लिए निकलेंगे त्योंही काषाय छोड़कर मैं यहाँसे घर चला जाऊँगा; क्योंकि चञ्चल चित्तसे पूज्य वेष धारण करनेवाले पाप-बुद्धिका न परलोक बनेगा और उस हत-बुद्धिका न इहलोक बनेगा । ५२

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "नन्द-विलाप"
नामक सप्तम सर्ग समाप्त ।

अष्टम सर्ग

स्त्री-विघ्न

अथ नन्दमधीरलोचनं गृहयानोत्सुकमुत्सुकोत्सुकं ।
अभिगम्य शिवेन चक्षुषा श्रमणः कश्चिदुवाच मैत्रया ॥१॥

नन्दकी आँखें चञ्चल थीं; घर जानेकी उत्सुकतामें वह अत्यन्त व्याकुल था। उसके समीप जाकर कल्याण-दृष्टिसे देखते हुए किसी भिक्षुने मैत्रीपूर्वक कहा :—१

किमिदं मुखमश्रुदुर्दिनं हृदयस्थं विवृणोति ते तमः।
धृतिमेहि नियच्छ विक्रियां न हि बाष्पश्च शमश्च शोभते ॥२॥

"तुम्हारा यह अश्रु-प्लावित मुख तुम्हारे हृदयके अज्ञानान्धकारको प्रकट कर रहा है। धैर्य धारण करो, विकारको रोको ; क्योंकि शान्ति और आँसू (एक साथ) शोभित नहीं होते। २

द्विविधा समुदेति वेदना नियतं चेतसि देह एव च।
श्रुतविध्युपचारकोविदा द्विविधा एव तयोश्चिकित्सकाः ॥३॥

निश्चय ही पीड़ा दो प्रकारकी होती है—मानसिक और शारीरिक। उनके चिकित्सक भी दो प्रकारके होते हैं—शास्त्र जाननेवाले और उपचार जाननेवाले। ३

तदियं यदि कायिकी रुजा भिषजे तूर्णमनूनमुच्यतां।
विनिगुह्य हि रोगमातुरो नचिरात्तीव्रमनर्थमृच्छति ॥४॥

इसलिए यदि यह शारीरिक रोग है तो तुरंत ही वैद्यको पूरा पूरा (हाल) बतला दो; क्योंकि रोगको छिपाकर रोगी व्यक्ति शीघ्र ही घोर विपत्तिमें पड़ता है। ४

अथ दुःखमिदं मनोमयं वद वक्ष्यामि यदत्र भेषजं।
मनसो हि रजस्तमस्विनो भिषजोऽध्यात्मविदः परीक्षका: ॥५॥

या यदि यह मानसिक दुःख है तो मुझसे कहो, मैं इसकी दवा बतलाऊँगा; क्योंकि रजस् और तमस्से युक्त चित्तके चिकित्सक होते हैं अध्यात्म जाननेवाले दार्शनिक। ५

निखिलेन च सत्यमुच्यतां यदि वाच्यं मयि सौम्य मन्यसे।
गतयो विविधा हि चेतसां बहुगुह्यानि महाकुलानि च ॥६॥

हे सौम्य, यदि मुझसे कहने योग्य समझते हो तो सब सच सच कहो; क्योंकि चित्तकी गति विविध है, जिसमें बहुत कुछ गोपनीय होता है और बड़ी व्याकुलता होती है। ६

इति तेन स चोदितस्तदा व्यवसायं प्रविवक्षुरात्मनः।
अवलम्ब्य करे करेण तं प्रविवेशान्यतरद्वनान्तरं ॥७॥

उससे तब इस प्रकार प्रेरित होकर, अपना निश्चय कहनेकी इच्छासे अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर, वह दूसरे वनके दूसरे भागमें प्रविष्ट हुआ। ७

अथ तत्र शुचौ लतागृहे कुसुमोद्गारिणि तौ निषेदतुः।
मृदुभिर्मृदुमारुतेरितैरुपगूढाविव बालपल्लवैः ॥८॥

तब वहाँ पुष्पवर्षी पवित्र लता-मण्डपमें वे दोनों बैठ गये और मन्द मन्द वायुसे आन्दोलित कोमल बाल-पल्लवोंने उनका आलिङ्गन किया। ८

स जगाद ततश्चिकीर्षितं घननिश्वासगृहीतमन्तरा।
श्रुतवाग्विशदाय भिक्षवे विदुषा प्रव्रजितेन दुर्वचं ॥९॥

६—पा० 'मदाकुलानि'।

तब घनी साँसोंके कारण बीच बीच में रुक रुक कर उसने शास्त्र और वाणीमें निपुण उस भिक्षुसे अपना निश्चय कहा, जो कि किसी विद्वान् भिक्षुके द्वारा कठिनाईसे कहा जा सकता था। ६

सदृशं यदि धर्मचारिणः सततं प्राणिषु मैत्रचेतसः।
अधृतौ यदियं हितैषिता मयि ते स्यात्करुणात्मनः सतः॥१०॥

"यह उचित ही है यदि धर्मका आचरण करने वाले, प्राणियोंके प्रति सदा मैत्री-भाव रखनेवाले, आप कारुणिक मुझ अधीर के हितैषी हैं। १०

अत एव च मे विशेषतः प्रविवक्षा क्षमवादिनि त्वयि।
न हि भावमिमं चलात्मने कथयेयं ब्रुवतेऽप्यसाधवे॥११॥

इसलिए मैं विशेषतः आप उचित-वक्तासे कहना चाहता हूँ; क्योंकि चञ्चलात्मा और असाधु पुरुषसे, चाहे वह वक्ता ही क्यों न हो (या पूछने पर भी), अपना यह भाव नहीं कह सकता। ११

तदिदं शृणु मे समासतो न रमे धर्मविधावृते प्रियां।
गिरिसानुषु कामिनीमृते कृतरेता इव किन्नरश्चरन्॥१२॥

इसलिए मेरा यह भाव संक्षेपमें सुनिये। प्रियाके विना मैं धर्म में आनन्द नहीं पा रहा हूँ, जैसे पहाड़की चोटियोंपर विचरण करनेवाला कामसे पीड़ित किन्नर अपनी कामिनीके विना आनन्दित नहीं होता। १२

वनवाससुखात्पराङ्मुखः प्रयियासा गृहमेव येन मे।
न हि शर्म लभे तया विना नृपतिर्हीन इवोत्तमश्रिया॥१३॥

मैं वनवासके सुखसे पराङ्मुख हूँ, इसलिए मैं घर जाना चाहता हूँ। क्योंकि उसके विना मैं शान्ति नहीं पा रहा हूँ, जैसे कि राज्य-लक्ष्मीसे रहित राजाको शान्ति नहीं मिलती है।" १३

अथ तस्य निशम्य तद्वचः प्रियभार्याभिमुखस्य शोचतः ।
श्रमणः स शिरः प्रकम्पयन्निजगादात्मगतं शनैरिदं ॥१४॥

अपनी प्रिय भार्या की ओर उन्मुख होकर उस शोक करनेवालेका वह वचन सुनकर उस भिक्षुने शिर कँपाते हुए धीरे धीरे अपनेको ही यों कहा:—१४

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनिःसृतः ।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ॥१५॥

"अहो! व्याधके महाभयसे निकला हुआ चपल मृग अपने झुण्ड (में लौटने) की इच्छा करता है, किंतु गीतकी ध्वनिसे वञ्चित होकर फन्देमें प्रवेश करना चाहता है। १५

विहगः खलु जालसंवृतो हितकामेन जनेन मोक्षितः ।
विचरन्फलपुष्पवद्वनं प्रविविक्षुः स्वयमेव पञ्जरं ॥१६॥

जालमें फँसा हुआ पक्षी हितैषी व्यक्तिके द्वारा मुक्त होकर फूलों और फलोंसे युक्त जंगलमें विचरण करता हुआ स्वयंही पिंजड़ेमें प्रवेश करना चाहता है। १६

कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपङ्काद्विषमान्नदीतलात् ।
जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति ॥१७॥

हाथीके द्वारा अत्यन्त पङ्किल और विषम नदी-तलसे बाहर निकाला गया करि-शावक (हाथीका बच्चा) जलकी तृष्णासे फिर उसी ग्राह-पूर्ण नदीमें प्रवेश करना चाहता है। १७

शरणे सभुजंगमे स्वपन्प्रतिबुद्धेन परेण बोधितः ।
तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुग्रं भुजगं जिघृक्षति ॥१८॥

सर्प-युक्त घरमें सोया हुआ तरुण दूसरे जगे हुए व्यक्तिके द्वारा

जगाया जाता है और वह (तरुण) घबड़ा कर स्वयं उस भीषण सर्पको पकड़ना चाहता है। १८

महता खलु जातवेदसा ज्वलिताद्रुत्पतितो वनद्रुमात्।
पुनरिच्छति नीडतृष्णया पतितुं तत्र गतव्यथो द्विजः ॥१९॥

महा अग्निसे जलते हुए जंगलके वृक्षपरसे उड़ा हुआ पक्षी व्यथा-रहित होकर (जलनेकी व्यथाको भूलकर) अपने घोंसलेकी तृष्णासे फिर वहीं जाना चाहता है। १९

अवशः खलु काममूर्छया प्रियया श्येनभयाद्विनाकृतः।
न धृतिं समुपैति न ह्रियं करुणं जीवति जीवजीवकः ॥२०॥

बाजके भयसे अपनी प्रियासे अलग होकर जीवजीवक (पक्षी) कामकी पीड़ासे असहाय हो जाता है, उसे न धैर्य होता है, न लज्जा होती है, वह दीनतापूर्वक जीवन धारण करता है। २०

अकृतात्मतया तृषान्वितो घृणया चैव धिया च वर्जितः।
अशनं खलु वान्तमात्मना कृपणः श्वा पुनरत्तुमिच्छति ॥२१॥

असंयतात्मा, तृष्णा-युक्त तथा घृणा एवं बुद्धिसे रहित कृपण कुत्ता अपनेही उगले हुए भोजनको फिर खाना चाहता है।" २१

इति मन्मथशोककर्षितं तमनुध्याय मुहुर्निरीक्ष्य च।
श्रमणः स हिताभिकाङ्क्षया गुणवद्वाक्यमुवाच विप्रियं ॥२२॥

इस प्रकार काम-शोकसे विह्वल (या क्षीण हुए) नन्दका खयाल करके और उसकी ओर पुनः देखकर उस भिक्षुने उसका हित करनेकी इच्छासे यह गुण-युक्त (हितकर) और अप्रिय वचन कहा:—२२

२२—कर्षित के लिए देखिये—"नियमैश्चोपवासैश्च कर्षयन् देहमात्मनः" म० भा० शल्य० चालीस २४।

अविचारयतः शुभाशुभं विषयेष्वेव निविष्टचेतसः।
उपपन्नमलब्धचक्षुषो न रतिः श्रेयसि चेद्भवेत्तव ॥२३॥

"तुम शुभ-अशुभका विचार नहीं करते हो, तुम्हारा चित्त विषयोंमें ही आसक्त है, तुम्हें (प्रज्ञा-) चक्षु प्राप्त नहीं हुआ है, तब यदि तुम श्रेयमें नहीं रमो तो यह स्वाभाविक ही है। २३

श्रवणे ग्रहणेऽथ धारणे परमार्थावगमे मनःशमे।
अविषक्तमतेश्चलात्मनो न हि धर्मेऽभिरतिर्विधीयते ॥२४॥

क्योंकि श्रवण ग्रहण और धारण करनेमें, परमार्थको समझनेमें, एवं मानसिक शान्तिमें जिस चञ्चलात्मा व्यक्तिकी बुद्धि आसक्त नहीं है उसको धर्ममें आनन्द नहीं मिलता है। २४

विषयेषु तु दोषदर्शिनः परितुष्टस्य शुचेरमानिनः।
शमकर्मसु युक्तचेतसः कृतबुद्धेर्न रतिर्न विद्यते ॥२५॥

जो विषयोंमें दोष ही दोष देखता है, जो संतुष्ट पवित्र और मान से रहित है, जिसका चित्त शान्तिके कार्योंमें लगा हुआ है उस बुद्धिमान् (या कृतसङ्कल्प, स्थिरबुद्धि) पुरुषको धर्ममें आनन्द मिलेगा ही। २५

रमते तृषितो धनश्रिया रमते कामसुखेन बालिशः।
रमते प्रशमेन सज्जनः परिभोगान्परिभूय विद्यया ॥२६॥

तृष्णावान् व्यक्तिको धन-सम्पत्तिमें और मूर्खको काम-सुखमें आनन्द मिलता है; किंतु जो सज्जन है वह ज्ञान द्वारा भोगों (की इच्छा) को जीतकर शान्तिमें रमण करता है। २६

अपि च प्रथितस्य धीमतः कुलजस्यार्चितलिङ्गधारिणः।
सदृशी न गृहाय चेतना प्रणतिर्वायुवशाद्गिरेरिव ॥२७॥

यशस्वी बुद्धिमान् कुलीन एवं पूज्य वेष धारण करनेवालेकेलिए

घर लौटनेका विचार करना उचित नहीं है जैसे कि वायुके वेगसे पर्वतका झुकना उचित नहीं है। २७

स्पृहयेत्परसंश्रिताय यः परिभूयात्मवशां स्वतन्त्रतां।
उपशान्तिपथे शिवे स्थितः स्पृहयेद्दोषवते गृहाय सः ॥२८॥

जो अपने वशमें रहनेवाली स्वतंत्रताका तिरस्कार करके दूसरेका आश्रित होना चाहे वह मङ्गलमय शान्ति-मार्गपर रहकर दोषोंसे भरे घरकी अभिलाषा करे। २८

व्यसनाभिहतो यथा विशेत्परिमुक्तः पुनरेव बन्धनं।
समुपेत्य वनं तथा पुनर्गृहसंज्ञं मृगयेत बन्धनं ॥२९॥

जिस प्रकार (बन्धनसे) मुक्त होनेके बाद मनुष्य विपत्तिमें पड़कर पुनः बन्धन (जेल) में प्रवेश करता है उसी प्रकार वनका आश्रय लेकर आदमी पुनः घर नामक बन्धनकी खोज कर सकता है। २९

पुरुषश्च विहाय यः कलिं पुनरिच्छेत्कलिमेव सेवितुं।
स विहाय भजेत बालिशः कलिभूतामजितेन्द्रियः प्रियां ॥३०॥

जो मनुष्य कलि (पाप)को छोड़कर फिर कलिका ही सेवन करना चाहे वह अजितेन्द्रिय मूर्ख कलि-स्वरूप प्रियाका परित्याग करके फिर उसीका सेवन करे। ३०

सविषा इव संश्रिता लताः परिमृष्टा इव सोरगा गुहाः।
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः।३१।

जैसे विष-युक्त लताओंका स्पर्श करनेसे, सर्पयुक्त गुफाओंको (निवासके लिए) साफ करनेसे, और खुली तलवारको पकड़नेसे विपत्ति होती है, वैसेही स्त्रियों (के सम्पर्क) का परिणाम विपत्ति है। ३१

प्रमदाः समदा मदप्रदा प्रमदा वीतमदा भयप्रदाः।
इति दोषभयावहाश्च ताः कथमर्हन्ति निषेवणं नु ताः ॥३२॥

मद-युक्त प्रमदाएँ मद पैदा करती हैं मदके बीतनेपर वे भयङ्कर हो जाती हैं। इस प्रकार दोष और भय उत्पन्न करनेवाली उन स्त्रियों-का कैसे सेवन किया जाय? ३२

स्वजनः स्वजनेन भिद्यते सुहृदश्चापि सुहृज्जनेन यत्।
परदोषविचक्षणाः शठास्तदनार्याः प्रचरन्ति योषितः ॥३३॥

स्वजन स्वजनसे और मित्र मित्रसे जो भिन्न (पृथक्) होता है सो दूसरोंके दोष देखनेमें निपुण, अनार्य एवं दुष्ट स्त्रियाँही करती हैं। ३३

कुलजाः कृपणीभवन्ति यद्यदयुक्तं प्रचरन्ति साहसं।
प्रविशन्ति च यच्चमूमुखं रभसास्तत्र निमित्तमङ्गनाः ॥३४॥

कुलीन व्यक्ति दीन होकर जो जो अनुचित और दुस्साहके कार्य करते हैं तथा वेगपूर्वक (विपक्षी) सेनाके सामने चले जाते हैं उसका कारण स्त्री है। ३४

वचनेन हरन्ति वल्गुना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषं ॥३५॥

स्त्रियाँ मीठी बोलीसे आकृष्ट करती हैं और तीक्ष्ण चित्तसे प्रहार करती हैं। उनके वचनमें मधु रहता है और हृदयमें हलाहल नामक महाविष। ३५

प्रदहन्दहनोऽपि गृह्यते विशरीरः पवनोऽपि गृह्यते।
कुपितो भुजगोऽपि गृह्यते प्रमदानां तु मनो न गृह्यते ॥३६॥

जलती हुई अग्निको भी पकड़ सकते हैं, शरीर-रहित हवाको भी पकड़ सकते हैं और क्रुद्ध सर्पको भी पकड़ सकते हैं, किंतु स्त्रियोंके मनको नहीं पकड़ सकते। ३६

न वपुर्विमृशन्ति न श्रियं न मतिं नापि कुलं न विक्रमं ।
प्रहरन्त्यविशेषतः स्त्रियः सरितो ग्राहकुलाकुला इव ॥३७॥

वे न रूपका, न श्रीका, न बुद्धिका, न कुलका और न पराक्रमका ही विचार करती हैं; ग्राहपूर्ण सरिताओंके समान स्त्रियाँ विना भेद-भावके (सबपर) प्रहार करती हैं। ३७

न वचो मधुरं न लालनं स्मरति स्त्री न च सौहृदं क्वचित्।
कलिता वनितैव चञ्चला तदिहारिष्विव नावलम्ब्यते ॥३८॥

स्त्री मीठी बोली, लालन-पालन या मित्रताको भी कहीं याद नहीं रखती। परीक्षित स्त्री भी चञ्चल होती है। इसलिए इस संसारमें शत्रुओंके समान उनपर भरोसा नहीं करना चाहिए। ३८

अददत्सु भवन्ति नर्मदाः प्रददत्सु प्रविशन्ति विभ्रमं ।
प्रणतेषु भवन्ति गर्विताः प्रमदास्तृप्ततराश्च मानिषु ॥३९॥

स्त्रियाँ देनेवालोंके साथ परिहास करती हैं और नहीं देनेवालोंके साथ नखरा (चञ्चलता) करती हैं। नम्र होने वालोंके प्रति मान करती हैं और मान करनेवालोंके प्रति संतुष्ट होती हैं। ३९

गुणवत्सु चरन्ति भर्तृवद्गुणहीनेषु चरन्ति पुत्रवत् ।
धनवत्सु चरन्ति तृष्णया धनहीनेषु चरन्त्यवज्ञया ॥४०॥

गुणवानोंके साथ स्वामीके समान और गुण-हीनोंके साथ पुत्रके समान आचरण करती हैं। धनवानोंके साथ तृष्णापूर्वक और धन-हीनोंके साथ अपमानपूर्वक व्यवहार करती हैं। ४०

विषयाद्विषयान्तरं गता प्रचरत्येव यथा हृतापि गौः ।
अनवेक्षितपूर्वसौहृदा रमतेऽन्यत्र गता तथाङ्गना ॥४१॥

जिस प्रकार हरण की गई (चुराई गई) गाय एक भूमिसे दूसरी

भूमिमें जाकर भी चरती ही है उसी प्रकार स्त्री अन्यत्र जाकर भी पहलेकी मित्रताको भूलकर (दूसरेके साथ) रमण करती है। ४१

प्रविशन्त्यपि हि स्त्रियश्चितामनुबध्नन्त्यपि मुक्तजीविताः।
अपि बिभ्रति चैव यन्त्रणा न तु भावेन वहन्ति सौहृदं ॥४२॥

स्त्रियाँ (पतिकी) चितामें भी प्रवेश करती हैं, जीवन (का भय) छोड़कर भी अनुसरण करती हैं। कष्ट भी झेलती हैं, किंतु हृदयसे मित्रता नहीं रखती हैं। ४२

रमयन्ति पतीन् कथंचन प्रमदा याः पतिदेवताः क्वचित्।
चलचित्ततया सहस्रशो रमयन्ते हृदयं स्वमेव ताः ॥४३॥

जो स्त्रियाँ अपने अपने पतिको देवता समझकर उन्हें कहीं किसी प्रकार प्रसन्न करती हैं वे अपने चित्तकी चञ्चलताके कारण अपने ही हृदयको हजारों बार प्रसन्न करती हैं। ४३

श्वपचं किल सेनजित्सुता चकमे मीनरिपुं कुमुद्वती।
मृगराजमथो बृहद्रथा प्रमदानामगतिर्न विद्यते ॥४४॥

सेनजित्की पुत्रीने चण्डालकी, कुमुद्वतीने मछलीके शत्रु (मछुए) की और बृहद्रथाने सिंहकी कामना की; स्त्रियोंके लिए अगम्य कुछ भी नहीं है। ४४

कुरुहैहयवृष्णिवंशजा बहुमायाकवचोऽथ शम्बरः।
मुनिरुग्रतपाश्च गौतमः समवापुर्वनितोद्धतं रजः ॥४५॥

कुरुवंशी, हैहयवंशी, वृष्णिवंशी, अत्यन्त मायावी शम्बर और उग्र तपस्वी मुनि गौतम स्त्री-सम्बन्धी रजसे दूषित हुए। ४५

अकृतज्ञमनार्यमस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः।
कथमर्हति तासु पण्डितो हृदयं सञ्जयितुं चलात्मसु ॥४६॥

४२—पा० 'चैव' के स्थान में 'नैव'।

स्त्रियोंका यह ऐसा मन अकृतज्ञ अनार्य और अस्थिर है; बुद्धिमान् व्यक्ति उन चञ्चलात्माओंमें अपना हृदय कैसे लगावे ? ४६

अथ सूक्ष्ममतिद्वयाशिवं लघु तासां हृदयं न पश्यसि।
किमु कायमसद्गृहं स्रवद्वनितानामशुचिं न पश्यसि ॥४७॥

यदि तुम स्त्रियोंके सूक्ष्म और हलके हृदय (चित्त) को, जो रजस् और तमस् इन दोके कारण अमङ्गलमय है, नहीं देख रहे हो तो क्या उनके अपवित्र शरीरको भी, जो बुराइयों (गन्दगियों) का झरता हुआ घर है, नहीं देख रहे हो ? ४७

यदहन्यहनि प्रधावनैर्वसनैश्चाभरणैश्च संस्कृतं।
अशुभं तमसावृतेक्षणः शुभतो गच्छसि नावगच्छसि ॥४८॥

प्रतिदिन प्रक्षालन वस्त्रों और आभूषणोंसे सुसज्जित अशुभ (शरीर) को, अज्ञानरूपी अन्धकारसे अपनी दृष्टि ढकी होनेके कारण, शुभ समझ रहे हो—इस (तथ्य) से अनभिज्ञ हो। ४८

अथवा समवैषि तत्तनूमशुभां त्वं न तु संविदस्ति ते।
सुरभिं विदधासि हि क्रियामशुचेस्तत्प्रभवस्य शान्तये ॥४९॥

या यदि तुम उनके शरीरको अशुभ (अपवित्र) समझते हो तो (मैं कहूँगा कि) तुमको ज्ञान नहीं है; क्योंकि उनसे उत्पन्न होनेवाली गन्दगीको दूर करनेकेलिए तुम उनकेलिए सुगन्धि और सौन्दर्यके कार्य करते हो। ४६

अनुलेपनमञ्जनं स्रजो मणिमुक्तातपनीयमंशुकं।
यदि साधु किमत्र योषितां सहजं तासु विचीयतां शुचि ॥५०॥

यदि अनुलेप अञ्जन मालाएँ मणि-मुक्ताएँ सुवर्ण और वस्त्र (का व्यवहार) ठीक है तो इनमेंसे स्त्रियोंका क्या है ? खोज करो कि उनमें कौन सी स्वाभाविक पवित्र वस्तु है। ५०

मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः ।
यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत् ॥५१॥

यदि तुम्हारी वह सुन्दरी मलरूपी कीचड़से युक्त और वस्त्र-रहित हो जाय और उसके नख दाँत व रोम स्वाभाविक अवस्थामें हो जाएँ तो निश्चय ही वह आज तुम्हें सुन्दर नहीं लगेगी । ५१

स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत्स्त्रियं ।
यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया ॥५२॥

कौन घृणावान् व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण पात्रके समान झरती हुई अपवित्र स्त्रीका स्पर्श करेगा, यदि वह केवल मक्खिकाके पङ्खके समान पतली त्वचासे आवृत न हो ? ५२

त्वचवेष्टितमस्थिपञ्जरं यदि कायं समवैषि योषितां ।
मदनेन च कृष्यसे बलादघृणः खल्वधृतिश्च मन्मथः ॥५३॥

यदि स्त्रियोंके शरीरको त्वचासे आच्छादित कङ्काल समझते हो और तो भी काम द्वारा बलात् खींचे जा रहे हो तो निश्चय ही वह काम घृणासे रहित और अधीर है । ५३

शुभतामशुभेषु कल्पयन्नखदन्तत्वचकेशरोमसु ।
अविचक्षण किं न पश्यसि प्रकृतिं च प्रभवं च योषितां ॥५४॥

तुम नख दाँत केश, व रोम, इन अपवित्र वस्तुओंमें पवित्रताकी कल्पना कर रहे हो, हे अज्ञानी, क्या स्त्रियोंकी उत्पत्ति और स्व-भावको नहीं देखते हो ? ५४

तदवेत्य मनःशरीरयोर्वनिता दोषवतीर्विशेषतः ।
चपलं भवनोत्सुकं मनः प्रतिसंख्यानबलेन वार्यतां ॥५५॥

इसलिए स्त्रियोंको विशेषतः मन और शरीरके दोषोंसे युक्त

जानकर घर जानेके लिए उत्सुक अपने चपल मनको ज्ञान-बलसे रोको। ५५

श्रुतवान्मतिमान् कुलोद्गतः परमस्य प्रशमस्य भाजनं।
उपगम्य यथा तथा पुनर्न हि भेत्तुं नियमं त्वमर्हसि ॥५६॥

तुम विद्वान् बुद्धिमान् कुलीन और परम शान्तिके पात्र हो। जैसे-तैसे भी नियम ग्रहण करके पुनः उसे तोड़ना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। ५६

अभिजनमहतो मनस्विनः प्रिययशसो बहुमानमिच्छतः।
निधनमपि वरं स्थिरात्मनश्च्युतविनयस्य न चैव जीवितं ॥५७॥

जिसका कुल महान् है, जो मनस्वी है, जिसको अपना यश प्यारा है और जो सम्मान चाहता है उसके लिए (नियममें) स्थिर रहकर मर जाना अच्छा है न कि नियमसे च्युत होकर जीवन धारण करना। ५७

बद्ध्वा यथा हि कवचं प्रगृहीतचापो
निन्द्यो भवत्यपसृतः समराद्रथस्थः।
भैक्षाकमभ्युपगतः परिगृह्य लिङ्गं
निन्द्यस्तथा भवति कामहृतेन्द्रियाश्वः ॥५८॥

जिस प्रकार कवच पहनकर और धनुष लेकर रथपर चढ़ा हुआ आदमी युद्धसे भागकर निन्दा प्राप्त करता है उसी प्रकार भिक्षु-वेष धारण करके भिक्षु-जीवनमें प्रवेश करनेपर जिसके इन्द्रिय रूपी घोड़े काम द्वारा बहकाये जाते हैं वह निन्दाका पात्र होता है। ५८

हास्यो यथा च परमाभरणाम्बरस्रग्
भैक्षं चरन्धृतधनुश्चलचित्रमौलिः।
वैरूप्यमभ्युपगतः परपिण्डभोजी
हास्यस्तथा गृहसुखाभिमुखः सतृष्णः ॥५९॥

जिस प्रकार उत्तम आभूषण वस्त्र मालाएँ धारण करनेवाला और चित्र-विचित्र मुकुट चमकानेवाला व्यक्ति यदि धनुष लेकर भीख माँगता चले तो वह हास्यास्पद होता है उसी प्रकार भिक्षु-वेष धारण करके भिक्षाका अन्न खानेवाला आदमी यदि तृष्णा-युक्त होकर घरके सुखोंकी अभिलाषा करे तो वह हास्यास्पद होता है। ५९

यथा स्वन्नं भुक्त्वा परमशयनीयेऽपि शयितो
वराहो निर्मुक्तः पुनरशुचि धावेत्परिचितं।
तथा श्रेयः शृण्वन्प्रशमसुखमास्वाद्य गुणवद्
वनं शान्तं हित्वा गृहमभिलषेत्कामतृषितः ॥६०॥

जिस प्रकार उत्तम अन्न खाकर और उत्तम पलंग पर सोकर भी वराह (सूअर) छूटनेपर अपनी परिचित गन्दगीकी ओर ही दौड़ता है उसी प्रकार श्रेयको सुनकर और उत्कृष्ट शान्ति-सुखका आस्वादन करके काम-भोगोंकी तृष्णासे युक्त मनुष्य शान्त वनको छोड़कर घर (जाने) की अभिलाषा करता है। ६०

यथोल्का हस्तस्था दहति पवनप्रेरितशिखा
यथा पादाक्रान्तो दशति भुजगः क्रोधरभसः।
यथा हन्ति व्याघ्रः शिशुरपि गृहीतो गृहगतः
तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति ॥६१॥

जिस प्रकार हाथकी उल्का (मसाल) हवासे प्रज्वलित होकर (हाथको) जलाती है, जिस प्रकार पाँवसे रौंदा गया क्रुद्ध सर्प डसता है, जिस प्रकार घरमें पकड़ा गया (या पकड़कर घरमें रखा गया) बाघ शिशु (बच्चा) होनेपर भी हत्या करता है उसी प्रकार स्त्रियोंका संसर्ग बहुतेरे अनर्थोंका कारण है। ६१

तद्विज्ञाय मनःशरीरनियतान्नारीषु दोषानिमान्
मत्वा कामसुखं नदीजलचलं क्लेशाय शोकाय च ।
दृष्ट्वा दुर्बलमामपात्रसदृशं मृत्यूपसृष्टं जगन्
निर्मोक्षाय कुरुष्व बुद्धिमतुलामुत्कण्ठितुं नार्हसि॥६२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्त्रीविघातो नामाष्टमः सर्गः ।

इसलिए स्त्रियोंमें मन और शरीरके इन दोनों दोषोंको जानकर, कामसुखको नदीके जलके समान अस्थिर तथा क्लेश-प्रद और शोकप्रद समझकर, संसारको मृत्युसे ग्रस्त तथा कच्चे बर्तनके समान दुर्बल (क्षण-भङ्गुर) देखकर अपनी अनुपम बुद्धिको मोक्षमें लगाओ। तुम्हें (घर जानेकी) उत्कण्ठा नहीं करनी चाहिए। ६२

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "स्त्री-विघ्न"
नामक अष्टम सर्ग समाप्त ।

——

नवम सर्ग

अभिमानकी निन्दा

अथैवमुक्तोऽपि स तेन भिक्षुणा जगाम नैवोपशमं प्रियां प्रति ।
तथा हि तामेव तदा स चिन्तयन्न तस्य शुश्राव विसंज्ञवद्वचः ॥१॥

उस भिक्षुके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी अपनी प्रियाके विषयमें उसे शान्ति नहीं मिली। उस समय वह अपनी प्रियाकी ही चिन्ता करता रहा और बेहोश व्यक्तिके समान उसका वचन नहीं सुना। १

यथा हि वैद्यस्य चिकीर्षतः शिवं वचो न गृह्णाति मुमूर्षुरातुरः ।
तथैव मत्तो बलरूपयौवनैर्हितं न जग्राह स तस्य तद्वचः ॥२॥

जिस प्रकार मरणासन्न रोगी हितैषी वैद्यकी बात नहीं सुनता है; उसी प्रकार बल रूप और यौवनसे मत्त होनेके कारण उसने उसके उस हितकारी वचनको ग्रहण नहीं किया। २

न चात्र चित्रं यदि रागपाप्मना मनोऽभिभूयेत तमोवृतात्मनः ।
नरस्य पाप्मा हि तदा निवर्तते यदा भवत्यन्तगतं तमस्तनु ॥३॥

इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि तमोवृत (अज्ञानी) का मन रागरूपी दोषसे अभिभूत होता है। मनुष्यका यह दोष उस समय निवृत्त होता है जब कि उसका तम (अज्ञान) क्षीण हो जाता है। ३

ततस्तथाक्षिप्तमवेत्य तं तदा बलेन रूपेण च यौवनेन च ।
गृहप्रयाणं प्रति च व्यवस्थितं शशास नन्दं श्रवणः स शान्तये ४

तब उस समय उसको बल रूप और यौवनसे मत्त तथा घर जाने-

के लिए स्थिर (कृतनिश्चय) देखकर उस भिक्षुने उसकी शान्तिके लिए कहा:—४

बलं च रूपं च नवं च यौवनं तथावगच्छामि यथावगच्छसि।
अहं त्विदं ते त्रयमव्यवस्थितं यथावबुद्धो न तथावबुध्यसे ॥५॥

"बल रूप और नवयौवनको जिस प्रकार तुम समझ रहे हो वह मैं समझता हूँ; किंतु मैं तुम्हारे इन तीनोंको जिस प्रकार अस्थिर समझ रहा हूँ वह तुम नहीं समझते हो। ५

इदं हि रोगायतनं जरावशं नदीतटानोकहवच्चलाचलं।
न वेत्सि देहं जलफेनदुर्बलं बलस्थतामात्मनि येन मन्यसे ॥६॥

यह शरीर रोगोंका घर, जराके वशीभूत, नदी-तीर-वर्ती वृक्षके समान चलाचल और जलके फेनके समान दुर्बल है, यह तुम नहीं जानते हो और इसीलिए अपने बलको स्थायी समझ रहे हो। ६

यदान्नपानासनयानकर्मणामसेवनादप्यतिसेवनादपि।
शरीरमासन्नविपत्ति दृश्यते बलेऽभिमानस्तव केन हेतुना ॥७॥

जब कि खाना पीना बैठना चलना, इन कर्मोंका सेवन नहीं करनेसे या अतिसेवन करनेसे शरीरका विपत्ति-ग्रस्त होना देखा जाता है, तब क्यों तुम बलका अभिमान करते हो ? ७

हिमातपव्याधिजराक्षुदादिभिर्यदाप्यनर्थैरुपमीयते जगत्।
जलं शुचौ मास इवार्करश्मिभिः क्षयं व्रजन् किं बलदृप्त मन्यसे ८

जब सर्दी गर्मी रोग बुढ़ापा भूख आदि अनर्थोंसे यह जगत् पीड़ित हो रहा है, तब जेठ मासमें सूर्यकी किरणोंसे जलके समान क्षीण होते हुए, हे बलाभिमानी, क्या सोच रहे हो ? ८

त्वगस्थिमांसक्षतजात्मकं यदा शरीरमाहारवशेन तिष्ठति।
अजस्रमार्तं सततप्रतिक्रियं बलान्वितोऽस्मीति कथं विहन्यसे ६

जब त्वचा हड्डी मांस और रक्तका बना हुआ शरीर आहारके वशीभूत, निरन्तर पीड़ित और सदा (भूख रोग आदिके) प्रतिकारमें लगा हुआ है, तब 'मैं बलवान् हूँ' ऐसी कल्पना क्यों कर रहे हो? ९

यथा घटं मृन्मयमाममाश्रितो नरस्तितीर्षेत्क्षुभितं महार्णवं।
समुच्छ्रयं तद्वदसारमुद्वहन्बलं व्यवस्येद्विषयार्थमुद्यतः ॥१०॥

जब मिट्टीके कच्चे घड़ेका सहारा लेकर मनुष्य क्षुब्ध महासागरको पार करना चाहे, तब उसी प्रकार असार शरीर (धातुओंके समवाय) को धारण करता हुआ, विषय-भोगकेलिए उद्यत मनुष्य अपनेको बलवान् (समर्थ) समझे। १०

शरीरमामादपि मृन्मयाद्घटा-
दिदं तु निःसारतमं मतं मम।
चिरं हि तिष्ठेद्विधिवद्धृतो घटः
समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते ॥११॥

यह शरीर मिट्टीके कच्चे घड़ेसे भी असार है, ऐसा मैं समझता हूँ; क्योंकि विधिपूर्वक रखा जानेपर घड़ा चिर काल तक रहता है, किन्तु यह शरीर अच्छी तरह रखा जानेपर भी नष्ट हो जाता है। ११

यदाम्बुभूवाय्वनलाश्च धातवः सदा विरुद्धा विषमा इवोरगाः।
भवन्त्यनर्थाय शरीरमाश्रिताः कथं बलं रोगविधो व्यवस्यसि १२

जब पृथ्वी जल अनल अनिल, ये धातु शरीरमें आश्रय पाकर विषम सर्पोंके समान सदा एक-दूसरेके विरोधी होते हैं और अनर्थ उत्पन्न करते हैं तब व्याधिधर्मा होनेपर क्यों अपनेको बलवान् समझ रहे हो? १२

प्रयान्ति मन्त्रैः प्रशमं भुजंगमा न
मन्त्रसाध्यास्तु भवन्ति धातवः।
क्वचिच्च कंचिच्च दशन्ति पन्नगाः
सदा च सर्वं च तुदन्ति धातवः ॥१३॥

मंत्रोंसे सर्प शान्त हो जाते हैं, किंतु मंत्रोंसे (शरीरके) धातुओं को वशमें नहीं कर सकते, कहीं-कहीं और किसी-किसीको ही सर्प डसते हैं, किंतु ये धातु सदा सबको पीड़ित करते रहते हैं। १३

इदं हि शय्यासनपानभोजनैर्गुणैः शरीरं चिरमप्यवेक्षितं।
न मर्षयत्येकमपि व्यतिक्रमं यतो महाशीविषवत्प्रकुप्यति ॥१४॥

सोना, बैठना, खाना, पीना इन कार्योंसे चिरकाल तक पोषित होनेपर भी यह शरीर एक भी व्यतिक्रम (गड़बड़ी) को नहीं सहता है जिसके होनेपर (पाँवसे रौंदे गये) विषधर सर्पके समान यह कुपित हो जाता है। १४

यदा हिमार्तो ज्वलनं निषेवते
हिमं निदाघाभिहतोऽभिकाङ्क्षति।
क्षुधान्वितोऽन्नं सलिलं तृषान्वितो
बलं कुतः किं च कथं च कस्य च ॥१५॥

जब कि हिमसे पीड़ित व्यक्ति अग्निका सेवन करता है, गर्मीसे पीड़ित व्यक्ति हिम (शीतलता) की आकांक्षा करता है, भूखा भोजन चाहता है और प्यासा पानी, तब बल कहाँ है, क्या है, कैसे है और किसका है? १५

तदेवमाज्ञाय शरीरमातुरं बलान्वितोऽस्मीति न मन्तुमर्हसि।
असारमस्वन्तमनिश्चितं जगज्जगत्यनित्ये बलमव्यवस्थितं ॥१६॥

इसलिए शरीरको पीड़ित जानकर "मैं बलवान् हूँ" ऐसा तुम्हें

नहीं समझना चाहिए। जगत् असार अनिश्चित और बुरा परिणामवाला है; अनित्य जगत्में बल अस्थिर है। १६

क्व कार्तवीर्यस्य बलाभिमानिनः सहस्रबाहोर्बलमर्जुनस्य तत् ।
चकर्त बाहून्युधि यस्य भार्गवो महान्ति शृङ्गाण्यशनिर्गिरेरिव १७

बलका अभिमान करनेवाले सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुन का वह बल कहाँ है ? परशुरामने युद्धमें उसकी बाहुओंको वैसे ही काट डाला, जैसे कि वज्र पर्वतकी बड़ी-बड़ी चोटियोंको काटता है। १७

क्व तद्बलं कंसविकर्षिणो हरेस्तुरङ्गराजस्य पुटावभेदिनः ।
यमेकबाणेन निजघ्निवान् जराः क्रमागता रूपमिवोत्तमं जरा ॥१८॥

कंस की हत्या करनेवाले तथा अश्व-राज (केशी) के मुखको विदीर्ण करनेवाले कृष्णका वह बल कहाँ है ? जरा (नामक व्याध) ने एक ही बाणसे उसे मार डाला, जैसे क्रमसे आई हुई वृद्धावस्था उत्तमरूपकी हत्या करती है। १८

दितेः सुतस्यामररोषकारिणश्चमूरुचेर्वा नमुचेः क्व तद्बलं ।
यमाहवे क्रुद्धमिवान्तकं स्थितं जघान फेनावयवेन वासवः ॥१६॥

देवोंको क्रुद्ध करनेवाले युद्ध-प्रिय नमुचि दैत्यका वह बल कहाँ है ? युद्धमें वह क्रुद्ध यमके समान खड़ा था और इन्द्रने (पानीके) फेनसे उसे मार डाला। १६

बलं कुरूणां क्व च तत्तदाभवद्
युधि ज्वलित्वा तरसौजसा च ये ।
समित्समिद्धा ज्वलना इवाध्वरे
हतासवो भस्मनि पर्यवस्थिताः ॥२०॥

कौरवोंका वह बल उस समय कहाँ चला गया जब कि वे युद्धमें

पराक्रम एवं वीरतापूर्वक प्रज्वलित होकर, यज्ञमें लकड़ियोंसे प्रज्वलित अग्निके समान, निष्प्राण होकर भस्मसात् हो गये ? २०

अतो विदित्वा बलवीर्यमानिनां बलान्वितानामवमर्दितं बलं।
जगज्जरामृत्युवशं विचारयन्बलेऽभिमानं न विधातुमर्हसि ।।२१।।

अतः बल एवं वीर्यका अभिमान करनेवाले बलवानोंके बलको चूर्ण हुआ जानकर और जगत्को जरा एवं मृत्युके वशीभूत समझ कर तुम्हें बलका अभिमान नहीं करना चाहिए। २१

बलं महद्वा यदि वा न मन्यसे कुरुष्व युद्धं सह तावदिन्द्रियैः।
जयश्च तेऽत्रास्ति महच्च ते बलं पराजयश्चेद्वितथं च ते बलं २२

यदि तुम अपने बलको महान् समझते हो या अन्यथा, तो (इसकी परीक्षाकेलिए) अपने इन्द्रियोंसे युद्ध करो, यदि इसमें तुम्हारी जीत होती है तो तुम्हारा बल महान् है, यदि पराजय होता है तो तुम्हारा बल व्यर्थ है। २२

तथा हि वीराः पुरुषा न ते मता
जयन्ति ये साश्वरथद्विपानरीन्
यथा मता वीरतरा मनीषिणो
जयन्ति लोलानि षडिन्द्रियाणि ये ।।२३।।

क्योंकि वे पुरुष, जो घोड़ों रथों और हाथियोंसे युक्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करते हैं, उतने वीर नहीं समझे जाते हैं जितने वीर कि वे मनीषी समझे जाते हैं, जो अपने छः चञ्चल इन्द्रियोंको जीत लेते हैं। २३

अहं वपुष्मानिति यच्च मन्यसे विचक्षणं नैतदिदं च गृह्यतां।
क्व तद्वपुः सा च वपुष्मती तनुर्गदस्य शाम्बस्य च सारणस्य च २४

"मैं रूपवान् हूँ" तुम्हारी यह समझ ठीक नहीं है, यह तुम मान लो। गद शाम्ब और सारणका वह रूप और रूपवान् शरीर कहाँ है ? २४

यथा मयूरश्चलचित्रचन्द्रको बिभर्ति रूपं गुणवत्स्वभावतः।
शरीरसंस्कारगुणादृते तथा बिभर्षि रूपं यदि रूपवानसि ॥२५॥

जिस प्रकार चञ्चल चित्र-विचित्र चन्द्रक (नेत्राकार चिह्न) वाला मयूर स्वभावसे ही उत्कृष्ट रूप धारण करता है, उसी प्रकार शरीरका संस्कार किये विना ही यदि तुम (उत्कृष्ट, स्वाभाविक) रूप धारण करते हो तो तुम रूपवान् हो। २५

यदि प्रतीपं वृणुयान्न वाससा न शौचकाले यदि संस्पृशेदपः।
मृजाविशेषं यदि नाददीत वा वपुर्वपुष्मन्वद कीदृशं भवेत् ॥२६॥

यदि प्रतिकूल (वीभत्स स्थान) को वस्त्रसे न ढके, यदि शौच-कालमें जलका स्पर्श न करे, या यदि सफाई-सजावट न करे तो हे रूपवान्, कहो, वह रूप कैसा हो जायगा ? २६

नवं वयश्चात्मगतं निशाम्य यद्गृहोन्मुखं ते विषयाप्तये मनः।
नियच्छ तच्छैलनदीरयोपमं द्रुतं हि गच्छत्यनिवर्ति यौवनं ॥२७॥

अपनी नई वयसको देखकर तुम्हारा मन विषय-भोगों की प्राप्ति-केलिए घरकी ओर लगा हुआ है, सो पहाड़ी नदी के समान वेगवान् उस मनको रोको; क्योंकि कभी नहीं लौटने वाला यौवन तेजीसे जा रहा है। २७

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनं ॥२८॥

२४—पा० 'शाम्ब' के स्थान में 'साम्य'।

बीता हुआ ऋतु पलटता है, क्षयको प्राप्त हुआ चन्द्रमा फिर आता है, किंतु नदियोंका जल और मनुष्योंका यौवन जाकर चला ही जाता है, लौटता नहीं है। २८

विवर्णितश्मश्रु वलीविकुञ्चितं विशीर्णदन्तं शिथिलभ्रु निष्प्रभं।
यदा मुखं द्रक्ष्यसि जर्जरं तदा जराभिभूतो विमदो भविष्यसि॥२६॥

जब तुम देखोगे कि तुम्हारे मुखकी मूछ-दाढ़ी विवर्ण (सफेद) हो गई है, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, दाँत टूट गए हैं, भौंहें शिथिल हो गई हैं, मुख निष्प्रभ और जर्जर हो गया है, तब जरासे अभिभूत होकर तुम मद-रहित हो जाओगे। २६

निषेव्य पानं मदनीयमुत्तमं निशाविवासेषु चिराद्विमाद्यति।
नरस्तु मत्तो बलरूपयौवनैर्न कश्चिदप्राप्य जरां विमाद्यति॥३०॥

आदमी उत्तम मादक पान-द्रव्यका सेवन करके रात्रिके बीतने पर बहुत देरके बाद मदसे मुक्त हो जाता है; किंतु बल रूप और यौवनसे मत्त कोई भी मनुष्य बुढ़ापेको प्राप्त हुए विना मदसे मुक्त नहीं होता है। ३०

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति॥३१॥

जिस प्रकार सब रस निचोड़ लिये जाने पर ऊँख पृथ्वीपर फेंक दिया जाता है और जलावनकेलिये सूखता रहता है उसी प्रकार जरारूपी यन्त्रमें दबकर शरीर सार-रहित हो जाता है और मृत्युकी प्रतीक्षामें रहता है। ३१

३०—पा० "निशाविवासे सुचिरा०"

यथा हि नृभ्यां करपत्रमीरितं समुच्छ्रितं दारु भिनत्त्यनेकधा।
तथोच्छ्रितां पातयति प्रजामिमामहर्निशाभ्यामुपसंहिता जरा॥३२॥

जिस प्रकार दो मनुष्यों द्वारा संचालित आरा ऊँचे वृक्षको अनेक खण्डोंमें काट देता है, उसी प्रकार दिवस और रात्रिके द्वारा समीप लाया गया बुढ़ापा इस उन्नत (अभिमानी, मत्त) जगत्का पतन उपस्थित करता है। ३२

स्मृतेः प्रमोषो वपुषः पराभवो
रतेः क्षयो वाच्छ्रुतिचक्षुषां ग्रहः।
श्रमस्य योनिर्बलवीर्ययोर्वधो
जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः॥३३॥

यह (बुढ़ापा) स्मरण-शक्तिका हरण करनेवाला, रूपका तिरस्कार करनेवाला, आनन्दका विनाशक, आँख कान और वाणीका ग्रहण पैदा करनेवाला, थकावट उत्पन्न करनेवाला तथा बल एवं वीर्य की हत्या करनेवाला है; शरीर-धारियोंकेलिए बुढ़ापेके समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है। ३३

इदं विदित्वा निधनस्य दैशिकं जराभिधानं जगतो महद्भयं।
अहं वपुष्मान्बलवान्युवेति वा न मानमारोढुमनार्यमर्हसि॥३४॥

जरा नामक संसारके इस महाभयको मृत्यु (-मार्ग) का उपदेशक (निर्देशक) जानकर मैं रूपवान् बलवान् वा युवा हूँ, इस अनार्य अभिमानके वशमें तुम्हें न होना चाहिए। ३४

अहं ममेत्येव च रक्तचेतसां शरीरसंज्ञा तव यः कलौ ग्रहः।
तमुत्सृजैवं यदि शाम्यता भवेद्भयं ह्यहं चेति ममेति चार्छति ३५

अपने आसक्त चित्तके कारण शरीरको "मैं" और 'मेरा ही' समझना, यह जो तुम्हारा दूषित विचार है, इसको छोड़ो, ऐसा

करने पर ही शान्ति होगी; क्योंकि 'मैं' और "मेरा" का भाव भय उत्पन्न करता है। ३५

यदा शरीरे न वशोऽस्ति कस्यचिन्निरस्यमाने विविधैरुपप्लवैः।
कथं क्षमं वेत्तुमहं ममेति वा शरीरसंज्ञं गृहमापदामिदं ॥३६॥

विविध उपद्रवोंसे पीड़ित रहने वाले शरीर पर जब किसीका वश चलता ही नहीं है तब शरीर नामक आपत्तियोंके घरको "मैं" या "मेरा" समझना कैसे उचित हो सकता है? ३६

सपन्नगे यः कुगृहे सदाशुचौ रमेत नित्यं प्रतिसंस्कृतेऽबले।
स दुष्टधातावशुचौ चलाचले रमेत काये विपरीतदर्शनः ॥३७॥

जो सर्प-युक्त सदा मैले-कुचैले जीर्ण-शीर्ण व कमजोर कुगृहमें बराबर रमण करेगा वही विपरीत दृष्टिवाला मनुष्य दुष्ट (परस्पर-विरोधी) धातुओंसे युक्त अपवित्र और क्षणभंगुर शरीरमें रमण करेगा। ३७

यथा प्रजाभ्यः कुनृपो बलाद्बलीन्हरत्यशेषं च न चाभिरक्षति।
तथैव कायो वसनादिसाधनं हरत्यशेषं च न चानुवर्तते ॥३८॥

जिस प्रकार कुराजा प्रजाओंसे बलात् अशेष कर लेता है और उनकी रक्षा नहीं करता है, उसी प्रकार शरीर अशेष वस्त्र-आदि साधन हरण करता है और अनुकूल नहीं रहता है। ३८

यथा प्ररोहन्ति तृणान्ययत्नतः क्षितौ प्रयत्नात्तु भवन्ति शालयः।
तथैव दुःखानि भवन्त्ययत्नतः सुखानि यत्नेन भवन्ति वा नवा ३९

जिस प्रकार पृथ्वीपर तृण अनायास ही अंकुरित होते हैं और धान प्रयत्न करने पर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दुःख विना यत्नके

३५—पा० "रक्तचेतसः"।

ही होते हैं किंतु सुख यत्न करने पर ही होते हैं या नहीं भी होते हैं। ३६

शरीरमार्तं परिकर्षतश्चलं न चास्ति किंचित्परमार्थतः सुखं।
सुखंहि दुःखप्रतिकारसेवया स्थिते च दुःखे तनुनि व्यवस्यति ४०

आर्त एवं क्षणभङ्गुर शरीरको घसीटनेमें वास्तवमें कुछभी सुख नहीं है। दुःखका प्रतिकार करके थोड़ा-सा दुःख रहनेपर ही आदमी सुखकी कल्पना कर लेता है। ४०

यथानपेद्याग्र्यमपीप्सितं सुखं प्रबाधते दुःखमुपेतमण्वपि।
तथानपेद्यात्मनि दुःखमागतं न विद्यते किंचन कस्यचित्सुखं ४१

जिस प्रकार अभिलषित महासुखकी अपेक्षा करनेपर भी उपस्थित दुःख, चाहे अत्यल्प ही क्यों न हो, कष्ट देता ही है उसी प्रकार आये हुए दुःखकी अवहेलना करके किसीको कोई सुख नहीं हो सकता है। ४१

शरीरमीदृग्बहुदुःखमध्रुवं
फलानुरोधादथ नावगच्छसि।
द्रवत्फलेभ्यो धृतिरश्मिभिर्मनो
निगृह्यतां गौरिव शस्यलालसा ॥४२॥

शरीर दुःख-पूर्ण और क्षणभङ्गुर है, यदि फलकी आसक्तिके कारण इसे नहीं समझ रहे हो तो भी चञ्चल (नाशवान्) फलोंकी ओरसे अपने मनको धैर्यरूपी रस्सीसे रोको, जैसे कि फसल (चरने) केलिये लालायित गौ को रोकते हैं। ४२

४१—मैंने 'यथानपेद्य' के स्थानमें 'यथान्वपेद्य' पढ़कर अर्थ किया है।

न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये हवींषि दीप्तस्य विभावसोरिव।
यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते ॥४३॥

काम-भोगोंसे तृप्ति नहीं होती है, जैसे कि जलती आगको आहुतियोंसे तृप्ति नहीं होती है। जैसे जैसे काम सुखोंमें प्रवृत्ति होती जाती है वैसे वैसे विषय-भोगोंकी इच्छा बढ़ती जाती है। ४३

यथा च कुष्ठव्यसनेन दुःखितः प्रतापनान्नैव शमं निगच्छति।
तथेन्द्रियार्थेष्वजितेन्द्रियश्चरन्न कामभोगैरुपशान्तिमृच्छति॥४४॥

जिस प्रकार कुष्ठ रोगसे पीड़ित व्यक्ति अपने (शरीर) को तपा कर शान्ति नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार विषयोंके बीच अजितेन्द्रिय होकर रहनेवाला मनुष्य काम-भोगोंसे शान्ति नहीं पाता है।४४

यथा हि भैषज्यसुखाभिकाङ्क्षया भजेत रोगान्न भजेत तत्क्षमं।
तथा शरीरे बहुदुःखभाजने रमेत मोहाद्विषयाभिकाङ्क्षया॥४५॥

जिस प्रकार (स्वादिष्ट) औषधिके सुखकी आकांक्षासे रोगोंका सेवन करे और उनके (कटु) प्रतिकारका सेवन न करे, उसी प्रकार मोहवश विषयोंकी आकांक्षा से दुःखपूर्ण शरीरमें रमण करे। ४५

अनर्थकामः पुरुषस्य यो जनः स तस्य शत्रुः किल तेन कर्मणा।
अनर्थमूला विषयाश्च केवला ननु प्रहेया विषमा यथारयः॥४६॥

जो मनुष्य किसी दूसरेके अनर्थकी कामना करता है वह अपने उस कर्मके कारण उसका शत्रु है। विषय केवल अनर्थके मूल हैं; विषम शत्रुओंके समान उनका परित्याग करना चाहिए। ४६

इहैव भूत्वा रिपवो वधात्मकाः प्रयान्ति काले पुरुषस्य मित्रतां।
परत्र चैवेह च दुःखहेतवो भवन्ति कामा न तु कस्यचिच्छिवाः॥४७

इस संसारमें जो शत्रु होकर हत्या करना चाहते हैं वे समय पर

मनुष्यके मित्र हो जाते हैं, किंतु काम (विषय) इहलोक और परलोकमें दुःखके हेतुस्वरूप हैं, उनसे किसीका कल्याण नहीं होता है। ४७

यथोपयुक्तं रसवर्णगन्धवद्वधाय किम्पाकफलं न पुष्टये।
निषेव्यमाणा विषयाश्चलात्मनो भवन्त्यनर्थाय तथा न भूतये॥४८॥

जिस प्रकार (सुन्दर) रस वर्ण व गन्ध से युक्त किम्पाक फलका उपयोग करनेसे मृत्यु होती है, पुष्टि नहीं, उसी प्रकार विषयोंका सेवन करनेसे चञ्चलात्मा व्यक्तिका अनर्थ (अनिष्ट) ही होता है, कल्याण नहीं। ४८

तदेतदाज्ञाय विपाप्मनात्मना विमोक्षधर्माद्युपसंहितं हितं।
जुषस्व मे सज्जनसंमतं मतं प्रचक्ष्व वा निश्चयमुद्गिरन्गिरं ४९

इसलिए पाप-रहित आत्मा (चित्त) से मोक्ष-धर्मके आरम्भसे युक्त इस हितको पहचानो और सज्जन-सम्मत मेरे मतका सेवन करो या वचन बोलकर अपना निश्चय कहो"। ४९

इति हितमपि बह्वपीदमुक्तः श्रुतमहता श्रमणेन तेन नन्दः।
न धृतिमुपययौ न शर्म लेभे द्विरद इवातिमदो मदान्धचेताः॥५०॥

उस महाविद्वान् भिक्षुके द्वारा इस प्रकार बहुत कुछ हित कहे जाने पर भी नन्दको न धैर्य हुआ न शान्ति; क्योंकि मत्त हाथीके समान उसका चित्त मदान्ध था। ५०

नन्दस्य भावमवगम्य ततः स भिक्षुः
पारिप्लवं गृहसुखाभिमुखं न धर्मे।
सत्त्वाशयानुशयभावपरीक्षकाय
बुद्धाय तत्त्वविदुषे कथयांचकार॥५१॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये मदापवादो नाम नवमः सर्गः ।

तब नन्दके चित्तको चञ्चल, घरके सुखोंकी ओर उन्मुख और धर्मसे विमुख जानकर, उस भिक्षुने प्राणियोंके आशय अनुशय और भावके परीक्षक तत्त्वज्ञ बुद्धसे (उसका अभिप्राय) निवेदन किया ।५१

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "अभिमानकी निन्दा"
नामक नवम सर्ग समाप्त ।

———

दशम सर्ग

स्वर्ग-दर्शन*

श्रुत्वा ततः सद्व्रतमुत्सिसृक्षुं भार्यां दिदृक्षुं भवनं विविक्षुं ।
नन्दं निरानन्दमपेतधैर्यमभ्युज्जिहीर्षुर्मुनिराजुहाव ॥१॥

तब 'नन्द उत्तम व्रतको छोड़ना चाहता है, पत्नीको देखना चाहता है, घर लौट जाना चाहता है, वह आनन्दसे रहित है और उसका धैर्य चला गया है' यह सुनकर उसका उद्धार करनेकी इच्छा-से मुनिने उसको बुलाया। १

तं प्राप्तमप्राप्तविमोक्षमार्गं पप्रच्छ चित्तस्खलितं सुचित्तः ।
स ह्रीमते ह्रीविनतो जगाद स्वं निश्चयं निश्चयकोविदाय ॥२॥

उसके आने पर उस विभ्रान्तचित्त और मोक्ष-मार्गको नहीं पाये हुए (नन्द) से सुन्दर चित्तवाले (मुनि) ने पूछा। लज्जासे झुककर उसने (दूसरोंके) निश्चय जाननेवाले लज्जाशील मुनिसे अपना निश्चय कहा। २

नन्दं विदित्वा सुगतस्ततस्तं भार्याभिधाने तमसि भ्रमन्तं ।
पाणौ गृहीत्वा वियदुत्पपात मलं जले साधुरिवोज्जिहीर्षुः ॥३॥

तब नन्दको भार्यारूपी अन्धकारमें भटकता जानकर सुगत उसे

---

* या स्वर्गका दृष्टान्त

३—"मनरूपी वस्त्रमें लगे स्नेहरूपी मलको······निर्मल जलसे धोना चाहता हूँ"—ह० च० उच्छ्वासछः। पा० "मणिं जले मग्नमि०", "मीनं जले मद्गुरि०"।

अपने हाथमें लेकर उसका (चित्त-) मल निकालने की इच्छासे आकाशमें उड़ गये, जैसे कोई साधु जलमें मल धोनेकी इच्छासे (आकाश-मार्गसे) जा रहा हो। ३

काषायवस्त्रौ कनकावदातौ विरेजतुस्तौ नभसि प्रसन्ने।
अन्योन्यसंश्लिष्टविकीर्णपक्षौ सरःप्रकीर्णाविव चक्रवाकौ ॥४॥

काषाय वस्त्र पहने हुए सुनहले रंगवाले वे दोनों स्वच्छ आकाश में ऐसे शोभित हुए, जैसे सरोवरमें उड़ते हुए चक्रवाक-युगल, जिनके पंख परस्पर सटे हुए और फैले हुए हों। ४

तौ देवदारूत्तमगन्धवन्तं नदीसरःप्रस्रवणौघवन्तं।
आजग्मतुः काञ्चनधातुमन्तं देवर्षिमन्तं हिमवन्तमाशु ॥५॥

वे दोनों देवदारुके वृक्षोंसे सुगन्धित, नदियों सरोवरों और झरनोंसे सुशोभित, सुवर्ण-धातुसे युक्त तथा देवर्षियोंसे अधिष्ठित हिमालयपर शीघ्र ही आ गये। ५

तस्मिन् गिरौ चारणसिद्धजुष्टे शिवे हविर्धूमकृतोत्तरीये।
अगम्यपारस्य निराश्रयस्य तौ तस्थतुर्द्वीप इवाम्बरस्य ॥६॥

चारणों और सिद्धोंसे सेवित उस मङ्गलमय पर्वतपर, जो होमके धुँआरूपी चादरसे ढका हुआ था, वे दोनों ऐसे विराजे जैसे अपार और आश्रय-रहित आकाशके किसी द्वीपमें स्थित हों। ६

शान्तेन्द्रिये तत्र मुनौ स्थिते तु सविस्मयं दिक्षु ददर्श नन्दः।
दरीश्च कुञ्जांश्च वनौकसश्च विभूषणं रक्षणमेव चाद्रेः ॥७॥

जब शांतेन्द्रिय मुनि वहाँ विराज रहे थे, तब नन्दने विस्मयपूर्वक चारों ओर गुफाओं कुञ्जों और वन-चारियोंको देखा, जो पर्वतके आभूषण और रक्षक थे। ७

६—पा० "आगम्य पारस्य"।

बह्वायते तत्र सिते हि शृङ्गे संक्षिप्तबर्हः शयितो मयूरः ।
भुजे बलस्यायतपीनबाहोर्वैडूर्यकेयूर इवाबभासे ॥८॥

वहाँ बहुत विस्तृत और श्वेत शिखरपर पंख फैलाकर एक मोर पड़ा हुआ था, जान पड़ता था जैसे लम्बी और मोटी भुजाओंवाले बलरामके बाहुका वैदूर्यमणिका बना बाजूबन्द हो । ८

मनःशिलाधातुशिलाश्रयेण पीताकृतांसो विरराज सिंहः ।
संतप्तचामीकरभक्तिचित्रं रूप्याङ्गदं शीर्णमिवाम्बिकस्य ॥९॥

मनःशिला धातुकी शिलाके सम्पर्कसे जिसका अंग पीला हो गया था वह सिंह ऐसे शोभित हुआ जैसे कृष्णका टूटा हुआ चाँदी का बाजूबन्द, जो तपे हुए सोनेके तारोंसे मढ़ा हुआ हो । ९

व्याघ्रः क्लमव्यायतखेलगामी लाङ्गूलचक्रेण कृतापसव्यः ।
बभौ गिरेः प्रस्रवणं पिपासुर्दित्सन्पितृभ्योऽम्भ इवावतीर्णः ॥१०

थकावटके कारण धीरे-धीरे चलकर एक बाघ अपनी चक्राकार पूँछको दाहिने कन्धेपर रखकर पहाड़ी झरनेका जल पीना चाहता था, जान पड़ता था जैसे नीचे उतरकर अपसव्य करके (दाहिने कंधे-पर चादर या यज्ञोपवीत रखकर) अपने पितरोंको जल देनेकी इच्छा कर रहा हो । १०

चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलम्बे चमरो ललम्बे ।
छेत्तुं विलग्नं न शशाक बालं कुलोद्गतां प्रीतिमिवार्यवृत्तः ११

हिमालयके नितम्ब पर, जहाँ कदम्ब वृक्ष हिल रहे थे, एक लम्बे वृक्ष पर एक चमर लटक रहा था; वह (डाल में) फँसी हुई

९—"पीतीकृताङ्गो" और "शीर्णमिवाच्युतस्य" पढ़कर अर्थ किया गया है ।

अपनी पूँछको नहीं काट सका जैसे कि उत्तम आचरणवाला आदमी परम्परागत मित्रताको नहीं तोड़ सकता है। ११

सुवर्णगौराश्च किरातसंघा मयूरपत्रोज्ज्वलगात्रलेखाः।
शार्दूलपातप्रतिमा गुहाभ्यो निष्पेतुरुद्गार इवाचलस्य ॥१२॥

सुनहले रंगके झुण्डके झुण्ड किरात, जिनके शरीर मोरकी पूँछोंसे उज्ज्वल थे बाघोंकी तरह गुफाओंसे निकल आये, जैसे पर्वतने उन्हें वमन किया हो। १२

दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणां।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणां ॥१३॥

गुफाओंमें रहनेवाली अत्यन्त सुन्दरी किन्नरियाँ, जिनके नितम्ब स्तन और उदर मनोहर थे, चारों ओर ऐसे शोभित हुईं, जैसे फूलोंसे भरी हुई लताएँ। १३

नगान्नगस्योपरि देवदारूनायासयन्तः कपयो विचेरुः।
तेभ्यः फलं नापुरतोऽपजग्मुर्मोघप्रसादेभ्य इवेश्वरेभ्यः ॥१४॥

एक पहाड़ परसे दूसरे पहाड़ पर जाकर देवदारुके वृक्षोंको क्लेशित करते हुए कपिगण विचर रहे थे; उन वृक्षोंसे फल नहीं मिलने पर वे वहाँ से हट गए, जैसे उन ऐश्वर्यशाली व्यक्तियोंके समीपसे जिनकी प्रसन्नता निष्फल होती है (याचकगण चले जाते हैं)। १४

तस्मात्तु यूथादपसार्यमाणां निष्पीडितालक्तकरक्तवक्त्रां।
शाखामृगीमेकविपन्नदृष्टिं दृष्ट्वा मुनिर्नन्दमिदं बभाषे ॥१५॥

११—"चलत्कदम्बे" "तरौ" का भी विशेषण हो सकता है।

१२—पा० "मयूरपिच्छोज्ज्वलगात्ररेखाः"।

उस झुण्डसे भटकी हुई एक वानरीको, जिसकी एक आँख नष्ट हो गई थी और जिसका मुख इस तरह लाल था जैसे उसपर महावर निचोड़ा गया हो, देखकर मुनिने नन्दसे यह कहा:—१५

का नन्द रूपेण च चेष्टया च संपश्यतश्चारुतरा मता ते।
एषा मृगी वैकविपन्नदृष्टिः स वा जनो यत्र गता तवेष्टिः ॥१६॥

"हे नन्द, तुम्हारी समझसे रूप और हाव-भावमें कौन अधिक सुन्दर है यह वनरी जिसकी एक आँख नष्ट हो गई है या वह व्यक्ति जिसमें तुम्हारा मन लगा हुआ है ?" १६

इत्येवमुक्तः सुगतेन नन्दः कृत्वा स्मितं किंचिदिदं जगाद।
क्व चोत्तमस्त्री भगवन्वधूस्ते मृगी नगक्लेशकरी क्व चैषा १७

सुगत द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर नन्दने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "हे भगवन् कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़को पीड़ा पहुँचानेवाली वनरी! १७

ततो मुनिस्तस्य निशम्य वाक्यं हेत्वन्तरं किंचिदवेक्षमाणः।
आलम्ब्य नन्दं प्रययौ तथैव क्रीडावनं वज्रधरस्य राज्ञः ॥१८॥

तब उसका यह वचन सुनकर, किसी दूसरे हेतुको देखते हुए मुनि नन्दको लेकर उसी प्रकार (आकाश-मार्गसे जाकर) वज्र धारण करने वाले देवेन्द्रके नन्दन-वन में पहुँच गये। १८

ऋतावृतावाकृतिमेक एके क्षणे क्षणे बिभ्रति यत्र वृक्षाः।
चित्रां समस्तामपि केचिदन्ये षण्णामृतूनां श्रियमुद्वहन्ति ॥१९॥

वहाँ कितने ही वृक्ष क्षण क्षणमें ऋतु ऋतुकी (बदलती हुई) आकृति (रूप, शोभा) को तथा दूसरे वृक्ष छः ऋतुओंकी समस्त चित्र-विचित्र शोभाको (एक साथ) धारण करते हैं। १९

पुष्यन्ति केचित्सुरभीरुदारा मालाः स्रजश्च ग्रथिता विचित्राः।
कर्णानुकूलानवतंसकांश्च प्रत्यर्थिभूतानिव कुण्डलानां ॥२०॥

कितने ही वृक्ष सुगन्धित और सुन्दर मालाएँ और गुंथे हुए चित्र-विचित्र हार तथा कुण्डलोंकी बराबरी करनेवाले कानोंके अनुकूल आभूषण धारण करते हैं। २०

रक्तानि फुल्लाः कमलानि यत्र
प्रदीपवृक्षा इव भान्ति वृक्षाः।
प्रफुल्लनीलोत्पलरोहिणोऽन्ये
सोन्मीलिताक्षा इव भान्ति वृक्षाः ॥२१॥

वहाँ लाल कमलोंवाले पेड़ दीयटोंके समान दिखाई पड़ते हैं और फूले हुए नीले कमलोंसे युक्त वृक्ष ऐसे शोभित होते हैं जैसे उनकी आँखें विकसित हुई हों। २१

नानाविरागाण्यथ पाण्डराणि सुवर्णभक्तिव्यवभासितानि।
अतान्तवान्येकघनानि यत्र सूक्ष्माणि वासांसि फलन्ति वृक्षाः २२

वहाँ के वृक्ष नाना रंगोंके, सफेद रंगके, सुवर्ण-रेखाओंसे उज्ज्वल, (पत्तोंके समान) तन्तु-रहित घन और सूक्ष्म वस्त्र फलते हैं। २२

हारान्मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि।
एवंविधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षाः ॥२३॥

कितने ही वृक्ष हारों, मणियों, उत्तम कुण्डलों, उत्तम केयूरों, नूपरों, और स्वर्गके अनुरूप ऐसे ही आभूषणोंके फल देते हैं। २३

वैडूर्यनालानि च काञ्चनानि पद्मानि वज्राङ्कुरकेसराणि।
स्पर्शक्षमाण्युत्तमगन्धवन्ति रोहन्ति निष्कम्पतला नलिन्यः ॥२४

कम्पन-रहित तल (=जल) वाले (शान्त) सरोवर सोनेके कमल उत्पन्न करते हैं, जिनके नाल वैदूर्यके होते हैं, जिनके अंकुर और

केसर हीरेके होते हैं, जो स्पर्श करने योग्य और उत्तम गन्धसे युक्त होते हैं। २४

यत्रायतांश्चैव ततांश्च तांस्तान्वाद्यस्य हेतून्सुषिरान् घनांश्च।
फलन्ति वृक्षा मणिहेमचित्राः क्रीडासहायास्त्रिदशालयानां ॥२५॥

वहाँ देवताओंकी क्रीड़ामें सहायता करनेवाले, मणियों और सुवर्णसे चित्र विचित्र वृक्ष भाँति-भाँतिके वाद्य-उपकरण मृदङ्ग आदि (आयत = आनद्ध या अवनद्ध ?) वीणा आदि, वंशी आदि तथा काँसेके झाँझ मञ्जीरा आदि फलके रूपमें देते हैं। २५

मन्दारवृक्षांश्च कुशेशयांश्च पुष्पानतान् कोकनदांश्च वृक्षान्।
आक्रम्य माहात्म्यगुणैर्विराजन् राजायते यत्र स पारिजातः ॥२६॥

वहाँ मन्दार वृक्षों, कमलों और फूलोंसे लदे कोकनद वृक्षोंको अपने उत्कृष्ट गुणोंसे जीतकर, वह पारिजात (वृक्षोंके बीच) राजाकी तरह शोभित होता है। २६

कृष्टे तपःशीलहलैरखिन्नैस्त्रिपिष्टपक्षेत्रतले प्रसूताः।
एवंविधा यत्र सदानुवृत्ता दिवौकसां भोगविधानवृक्षाः ॥२७॥

कभी नहीं थकनेवाले तप और शीलके हलोंसे जोती गई स्वर्गकी भूमिमें ऐसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं, जो स्वर्ग-वासियोंके भोगोंको पैदा करते हैं और सदा उनके अनुकूल रहते हैं। २७

मनःशिलाभैर्वदनैर्विहंगा यत्राक्षिभिः स्फाटिकसंनिभैश्च।
शावैश्च पक्षैरभिलोहितान्तैर्माञ्जिष्ठकैरर्धसितैश्च पादैः ॥२८॥

मनःशिलाके समान (लाल) मुखवाले, स्फटिकके समान (निर्मल) नेत्रवाले, काले पीले और लाल डैनेवाले तथा मञ्जिष्ठाके रंगके और आधा सफेद पाँववाले पक्षी, २८

चित्रैः सुवर्णच्छदनैस्तथान्ये वैडूर्यनीलैर्नयनैः प्रसन्नैः ।
विहंगमाः शिञ्जिरिकाभिधाना रुतैर्मनःश्रोत्रहरैर्भ्रमन्ति ॥२६॥

उसी प्रकार चमकीले चित्र-विचित्र सुनहले पंखवाले वैदूर्यके समान नीले और निर्मल नयन वाले शिञ्जिरिका नामक दूसरे पक्षी मन और श्रोत्रको हरने वाली बोली बोलते हुए विचरण करते हैं। २६

रक्ताभिरग्रेषु च वल्लरीभिर्मध्येषु चामीकरपिञ्जराभिः ।
वैडूर्यवर्णाभिरुपान्तमध्येष्वलंकृता यत्र खगाश्चरन्ति ॥३०॥

वहाँके पक्षियोंके डैनों (या देह-लताओं) के अग्रभाग लाल होते हैं, मध्य भाग सुनहला और पीला होता है, और अन्तिम भाग वैदूर्यके रंगका होता है, (स्वभावसे ही) इस प्रकार अलंकृत होकर वे वहाँ भ्रमण करते हैं। ३०

रोचिष्णवो नाम पतत्रिणोऽन्ये दीप्ताग्निवर्णा ज्वलितैरिवास्यैः ।
भ्रमन्ति दृष्टीर्वपुषाक्षिपन्तः स्वनैः शुभैरप्सरसो हरन्तः ॥३१॥

जलती हुई अग्निके रङ्गके रोचिष्णु नामक दूसरे पक्षी, जिनके मुख ऐसे (लाल) लगते हैं जैसे प्रज्वलित हो रहे हों, अपने रूपसे (दूसरोंकी) दृष्टियोंको आकृष्ट करते हुए तथा अपनी मीठी बोलीसे अप्सराओं (के मन) को हरण करते हुए विचरते हैं। ३१

यत्रेष्टचेष्टाः सततप्रहृष्टा निरर्तयो निर्जरसो विशोकाः ।
स्वैः कर्मभिर्हीनविशिष्टमध्याः स्वयंप्रभाः पुण्यकृतो रमन्ते ॥३२॥

वहाँ इच्छानुसार कार्य करनेवाले, सदा प्रसन्न रहनेवाले, पीड़ा शोक और बुढ़ापेसे रहित पुण्यवान् व्यक्ति रमण करते हैं, वे अपनी ही प्रभासे भासित होते हैं, अपने अपने कर्मोंके अनुसार वे उत्तम मध्यम और हीन (स्थितिमें या पदपर) होते हैं। ३२

पूर्वं तपोमूल्यपरिग्रहेण स्वर्गक्रयार्थं कृतनिश्चयानां ।
मनांसि खिन्नानि तपोधनानां हरन्ति यत्राप्सरसो लडन्त्यः ३३

जिन्होंने पहले तपस्यारूपी मूल्य देकर स्वर्ग खरीदनेका निश्चय किया था उन तपस्वियोंके खिन्न (उदास) चित्तको विलासवती अप्सराएँ प्रसन्न करती हैं। ३३

नित्योत्सवं तं च निशाम्य लोकं निस्तन्द्रिनिद्रारतिशोकरोगं ।
नन्दो जरामृत्युवशं सदार्तं मेने श्मशानप्रतिमं नृलोकं ॥३४॥

उस (दिव्य) लोकको नित्य उत्सवमय तथा थकावट नींद बेचैनी शोक और रोगसे रहित देखकर नन्दने जरा और मृत्युके वशीभूत एवं सदा पीड़ित रहनेवाले मनुष्य-लोकको श्मशानके समान समझा। ३४

ऐन्द्रं वनं तच्च ददर्श नन्दः समन्ततो विस्मयफुल्लदृष्टिः।
हर्षान्विताश्चाप्सरसः परीयुः सगर्वमन्योन्यमवेक्षमाणाः ॥३५॥

विस्मयसे विकसित आँखों वाले नन्दने इन्द्रके उस वनको चारों ओर देखा और अप्सराएँ आनन्दित होकर अभिमान-पूर्वक एक-दूसरेको देखते हुए, उसके चारों ओर आगईं। ३५

सदा युवत्यो मदनैककार्याः साधारणाः पुण्यकृतां विहाराः।
दिव्याश्च निर्दोषपरिग्रहाश्च तपःफलस्याश्रयणं सुराणां ॥३६॥

वे सदा युवती ही रहती हैं, काम (-क्रीड़ा) ही उनका एक-मात्र कार्य है, वे (सब) पुण्यवानोंके लिए समानरूपसे उपभोग करनेके लिए हैं, वे दिव्य हैं, उन्हें ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है, स्वर्गमें रहनेवाले अपनी तपस्याके फलस्वरूप उन्हें प्राप्त करते हैं। ३६

तासां जगुर्धीरमुदात्तमन्याः पद्मानि काश्चिल्ललितं बभञ्जुः ।
अन्योन्यहर्षान्ननृतुस्तथान्याश्चित्राङ्गहाराः स्तनभिन्नहाराः ३७

उनमेंसे किन्हीं-किन्हीं अप्सराओंने लीलापूर्वक कमल फूल तोड़े और दूसरी अप्सराओंने धैर्यपूर्वक उदात्त स्वरसे गीत गाया। और पारस्परिक आनन्दके कारण कतिपयोंने नृत्य किया, जिसमें उन्होंने भाँति-भाँतिके हाव-भाव प्रकट किये और जिनमें उनके स्तनों (की कठोरता) के कारण उनके हार टूट गये। ३७

कासांचिदासां वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः पद्मानि कारण्डवघट्टितानि ॥३८॥

उनमेंसे कतिपयोंके हिलते हुए कुण्डलोंवाले मुख वनके भीतरसे ऐसे शोभित हुए जैसे बिखरे हुए पत्तोंवाले सरोवरमें कलहंसों (या कारण्डवों) द्वारा हिलाये गये कमल शोभित हो रहे हों। ३८

ताः निःसृताः प्रेक्ष्य वनान्तरेभ्यस्तडित्पताका इव तोयदेभ्यः ।
नन्दस्य रागेण तनुर्विवेपे जले चले चन्द्रमसः प्रभेव ॥३९॥

जैसे मेघोंके भीतरसे बिजली निकलती है वैसे ही वनके भीतरसे उन्हें निकलते देखकर नन्दका शरीर राग (अनुराग, काम-वासना) के कारण काँपने लगा वैसे ही जैसे चञ्चल जलमें चाँदनी काँपती है।३९

वपुश्च दिव्यं ललिताश्च चेष्टास्ततः स तासां मनसा जहार ।
कौतूहलावर्जितया च दृष्ट्या संश्लेषतर्षादिव जातरागः ॥४०॥

तब वह अपने चित्तसे और कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे उनके दिव्य रूप और सुन्दर चेष्टाओंका अनुसरण करने लगा, मानो उन्हें आलिङ्गन करनेकी प्याससे उसे राग उत्पन्न हो गया हो। ४०

३८—पा० 'कादम्बविघट्टितानि'।

स जाततर्षोऽप्सरसः पिपासुस्तत्प्राप्तयेऽधिष्ठितविक्लवार्तः ।
लोलेन्द्रियाश्वेन मनोरथेन जेह्रीयमाणो न धृतिं चकार ॥४१॥

प्यास उत्पन्न होनेपर वह अप्सराओंको पीने (उपभोग करने) की इच्छा करने लगा और उन्हें प्राप्त करनेके लिए व्याकुलतासे युक्त होकर आर्त हो गया। चञ्चल इन्द्रियरूपी घोड़ोंवाले मनरूपी रथ द्वारा अपहृत होते हुए (नन्द) को धैर्य नहीं रहा। ४१

यथा मनुष्यो मलिनं हि वासः क्षारेण भूयो मलिनीकरोति ।
मलक्षयार्थं न मलोद्भवार्थं रजस्तथास्मै मुनिराचकर्ष ॥४२॥

जिस प्रकार मनुष्य मलका नाश करनेकेलिए न कि मल पैदा करनेकेलिए मलिन वस्त्रको राखसे और भी मलिन करता है, उसी प्रकार मुनिने (रागका नाश करनेकेलिए ही) उसमें राग उत्पन्न किया। ४२

दोषांश्च कायाद्भिषगुज्जिहीर्षुर्भूयो यथा क्लेशयितुं यतेत ।
रागं तथा तस्य मुनिर्जिघांसुर्भूयस्तरं रागमुपानिनाय ॥४३॥

जिस प्रकार वैद्य शरीरसे रोगोंको निकालनेकेलिए उसे और भी क्लेश देनेका यत्न करता है उसी प्रकार उसका राग नष्ट करनेकी इच्छासे मुनिने उसमें और भी राग उत्पन्न किया। ४३

दीपप्रभां हन्ति यथान्धकारे सहस्ररश्मेरुदितस्य दीप्तिः ।
मनुष्यलोके द्युतिमङ्गनानामन्तर्दधात्यप्सरसां तथा श्रीः ॥४४॥

जिस प्रकार अन्धकारमें (चमकनेवाली) दीपकी ज्योति उगते हुए सूर्यकी प्रभासे नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य लोकमें (चमकनेवाली) स्त्रियोंकी चमक अप्सराओंके सौन्दर्यसे तिरोहित हो जाती है। ४४

महच्च रूपं स्वगुणु हन्ति रूपं शब्दो महान्हन्ति च शब्दमल्पं।
गुर्वी रुजा हन्ति रुजां च मृद्वीं सर्वो महान्हेतुरणोर्वधाय ॥४५॥

महान् रूप छोटे रूपको नष्ट करता है, महान् शब्द छोटे शब्दको मिटा देता है और भारी रोग हलके रोगको दबा देता है; समस्त महान् वस्तु (हेतु) (उसी प्रकारके समस्त) छोटी वस्तुके विनाशका कारण है। ४५

मुनेः प्रभावाच्च शशाक नन्दस्तद्दर्शनं सोढुमसह्यमन्यैः।
अवीतरागस्य हि दुर्बलस्य मनो दहेदप्सरसां वपुःश्रीः ॥४६॥

मुनिके प्रभावसे वह उनकी ओर देखनेमें समर्थ हुआ जिनकी ओर दूसरे नहीं देख सकते हैं; क्योंकि जिसका राग नष्ट नहीं हुआ है उस दुर्बल व्यक्तिका चित्त अप्सराओंके शरीरकी ज्योतिसे दग्ध होता है। ४६

मत्वा ततो नन्दमुदीर्णरागं भार्यानुरोधादपवृत्तरागं।
रागेण रागं प्रतिहन्तुकामो मुनिर्विरागो गिरमित्युवाच ॥४७॥

तब नन्दको राग पैदा हो गया है और भार्याकी ओरसे उसका अनुराग हट गया है, यह समझकर राग द्वारा राग नष्ट करने की इच्छासे राग-रहित मुनिने यह वचन कहा :—४७

एताः स्त्रियः पश्य दिवौकसस्त्वं निरीक्ष्य च ब्रूहि यथार्थतत्त्वं।
एताः कथं रूपगुणैर्मतास्ते स वा जनो यत्र गतं मनस्ते ॥४८॥

"तुम इन दिव्य स्त्रियोंको देखो और देखकर ठीक ठीक कहो कि रूपोत्कर्षमें इन स्त्रियोंके बारेमें या उस व्यक्तिके बारेमें, जिसमें तुम्हारा मन लगा हुआ है, तुम्हारी क्या सम्मति है? ४८

अथाप्सरःस्वेव निविष्टदृष्टी रागाग्निनान्तर्हृदये प्रदीप्तः।
सगद्गदं कामविषक्तचेताः कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाच नन्दः ॥४९॥

तब अप्सराओंको ही (ध्यानपूर्वक) देखते हुए और हृदयके भीतर रागाग्निसे जलते हुए कामासक्तचित्त नन्दने हाथ जोड़कर गद्गद स्वरसे यह वचन कहा :—४९

हर्यङ्गनासौ मुषितैकदृष्टिर्यदन्तरे स्यात्तव नाथ वध्वाः।
तदन्तरेऽसौ कृपणा वधूस्ते वपुष्मतीरप्सरसः प्रतीत्य ॥५०॥

"हे नाथ, एक आँखसे रहित वह वनरी आपकी वधूसे जिस दूरीपर है उसी दूरीपर आपकी वह बेचारी वधू भी रूपवती अप्सराओंसे है। ५०

आस्था यथा पूर्वमभून्न काचिदन्यासु मे स्त्रीषु निशाम्य भार्याम्।
तस्यां ततःसम्प्रति काचिदास्था न मे निशाम्यैव हि रूपमासां॥५१

जिस प्रकार पूर्वमें अपनी पत्नीको देखकर दूसरी स्त्रियोंकी ओर मेरा झुकाव नहीं हुआ, उसी प्रकार इन (अप्सराओं) का रूप देखकर अब उसकी मुझे कुछ चाह नहीं रही। ५१

यथा प्रतप्तो मृदुनातपेन दह्येत कश्चिन्महतानलेन।
रागेण पूर्वं मृदुनाभितप्तो रागाग्निनानेन तथाभिदह्ये ॥५२॥

जिस प्रकार कोमल आतपसे तपा हुआ आदमी महा-अग्निमें पड़कर जल जाता है उसी प्रकार पहले अल्प रागसे संतप्त होकर मैं (अब) इस रागाग्निसे जल रहा हूँ। ५२

वाग्वारिणा मां परिषिञ्च तस्माद्यावन्न दह्ये स इवाब्जशत्रुः।
रागाग्निरद्यैव हि मां दिधक्षुः कक्षं सवृक्षाग्रमिवोत्थितोऽग्निः ॥५३॥

वाणी रूपी जलसे मुझे सिक्त कीजिये जिसमें मैं उस अब्ज-शत्रु (?) के समान जल न जाऊँ। यह रागाग्नि आज ही मुझे जला डालना चाहती है वैसे ही जैसे कि उठी हुई (दाव-) अग्नि वृक्ष-शिखर सहित तृणको जला डालती है। ५३

प्रसीद सीदामि विमुञ्च मा मुने वसुन्धराधैर्य न धैर्यमस्ति मे ।
असून्विमोक्ष्यामि विमुक्तमानस प्रयच्छ वा वागमृतं मुमूर्षवे ५४

प्रसन्न होइये, मैं डूब रहा हूँ, हे मुनि मुझे बचाइये; हे वसुन्धरा-धैर्य, मुझे धैर्य नहीं है। मुझ मरते हुएको वाणीरूपी अमृत दान कीजिये या, हे मुक्तचित्त, मैं प्राण छोड़ दूँगा। ५४

अनर्थभोगेन विघातदृष्टिना
प्रमाददंष्ट्रेण तमोविषाग्निना ।
अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाहिना
विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक् ॥५५॥

कामरूपी सर्पसे—अनर्थ ही जिसका फन है, विनाश ही जिसकी दृष्टि है, प्रमाद ही जिसकी दंष्ट्रा है और तम ही जिसका तीक्ष्ण विष है—मैं हृदयमें डँसा गया हूँ; इसलिये, हे महाभिषक्, मुझे विष-नाशक ओषधि दीजिये। ५५

अनेन दष्टो मदनाहिनाऽहिना
न कश्चिदात्मन्यनवस्थितः स्थितः ।
मुमोह वोध्योह्य चलात्मनो मनो
बभूव धीमांश्च स शन्तनुस्तनुः ॥५६॥

इस कामरूपी सर्पसे डँसा जानेपर कोई भी व्यक्ति अपनेमें स्थिर नहीं रहा, स्थिरात्मा वोध्युका मन मोहमें पड़ गया और वह बुद्धिमान् शन्तनु (शरीरसे) क्षीण हो गया। ५६

स्थिते विशिष्टे त्वयि संश्रये श्रये
यथा न यामीह वसन्दिशं दिशं
यथा च लब्ध्वा व्यसनक्षयं क्षयं
व्रजामि तन्मे कुरु शंसतः सतः ॥५७॥

आप उत्तम आश्रय हैं, मैं आपकी शरणमें जाता हूँ। मैं कह रहा हूँ कि आप वैसा करें जिससे मैं यहाँ रह कर छिन्न भिन्न न हो जाऊँ और जिससे इस विपत्तिका नाश करके घर लौट जाऊँ (या जिससे मैं जन्म जन्ममें भटकता न फिरूँ और विपत्तिरहित स्थानको प्राप्त कर सकूँ)" ५७

ततो जिघांसुर्हृदि तस्य तत्तमस्तमोनुदो नक्तमिवोत्थितं तमः।
महर्षिचन्द्रो जगतस्तमोनुदस्तमःप्रहीणो निजगाद गौतमः ५८

तब, जैसे रात्रिमें उठे हुए अन्धकारको चन्द्रमा नष्ट करता है उसी प्रकार उसके हृदयमें स्थित तम (अज्ञानान्धकार) का नाश करनेकी इच्छासे संसारके तमोविनाशक तमोविहीन महर्षि-श्रेष्ठ गौतमने कहा :—५८

धृतिं परिष्वज्य विधूय विक्रियां निगृह्य तावच्छ्रुतचेतसी शृणु।
इमा यदि प्रार्थयसे त्वमङ्गना विधत्स्व शुल्कार्थमिहोत्तमं तपः ५९

"धैर्य धारण करके विकारको दूर करो; कान और मनका निग्रह करके सुनो, यदि तुम इन स्त्रियोंकी इच्छा करते हो तो शुल्क (देने) केलिए उत्तम तपस्या करो। ५९

इमा हि शक्या न बलान्न सेवया न संप्रदानेन न रूपवत्तया।
इमा ह्रियन्ते खलु धर्मचर्यया सचेत्प्रहर्षश्चर धर्ममादृतः ॥६०॥

बल सेवा दान या रूपसे इन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, ये धर्माचरणके द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं; यदि ऐसी इच्छा हो तो आदरपूर्वक धर्माचरण करो। ६०

इहाधिवासो दिवि दैवतैः समं वनानि रम्याण्यजराश्च योषितः।
इदं फलं स्वस्य शुभस्य कर्मणो न दत्तमन्येन न चाप्यहेतुतः ६१

यहाँ स्वर्गमें देवताओंके साथ निवास, रम्य उपवन और बुढ़ापेसे रहित स्त्रियाँ—यह सब अपने ही शुभ कर्मका फल है दूसरोंके द्वारा नहीं दिया जा सकता और न अकारण ही प्राप्त होता है। ६१

क्षितौ मनुष्यो धनुरादिभिः श्रमैः स्त्रियः कदाचिद्धि लभेत वा न वा
असंशयं यत्त्विह धर्मचर्यया भवेयुरेता दिवि पुण्यकर्मणः ॥६२॥

पृथ्वीपर मनुष्य शस्त्र-सञ्चालन आदि परिश्रम द्वारा कदाचित् स्त्रियोंको प्राप्तकर सकता है या नहीं भी प्राप्तकर सकता है; किंतु यह निश्चित है कि इह लोकमें धर्माचरण करके पुण्य अर्जन करने वालेको स्वर्गमें ये (अप्सराएँ) प्राप्त होती ही हैं। ६२

तदप्रमत्तो नियमे समुद्यतो रमस्व यद्यप्सरसोऽभिलिप्ससे।
अहं च तेऽत्र प्रतिभूः स्थिरे व्रते यथा त्वमाभिनियतं समेष्यसि६३

इसलिए यदि अप्सराओंको प्राप्त करना चाहते हो तो प्रमाद-रहित होकर प्रयत्नपूर्वक नियमका पालन करो। मैं इस विषयमें तुम्हारा प्रतिभू होता हूँ कि तुम्हारा व्रत स्थिर होनेपर तुम अवश्य इन्हें प्राप्त करोगे"। ६३

अतःपरं परममिति व्यवस्थितः परां धृतिं परममुनौ चकार सः।
ततो मुनिः पवन इवाम्बरात्पतन्प्रगृह्य तं पुनरगमन्महीतलं ६४

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्वर्गनिदर्शनो नाम दशमः सर्गः।

तब 'यह ठीक है' ऐसा निश्चय करके उसने उन उत्तम मुनिपर पूरा भरोसा किया, तब उसे लेकर मुनि वायुके समान आकाशसे उतरते हुए पृथ्वीपर आगये। ६४

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "स्वर्ग-दर्शन"
नामक दशम सर्ग समाप्त।

——

एकादश सर्ग

* स्वर्गकी निन्दा

ततस्ता योषितो दृष्ट्वा नन्दो नन्दनचारिणीः ।
बबन्ध नियमस्तम्भे दुर्दमं चपलं मनः ॥१॥

तब नन्दन-वनमें विचरण करनेवाली उन स्त्रियोंको देखकर नन्दने अपने दुर्दान्त और चपल चित्तको नियमरूपी स्तम्भमें बाँधा । १

सोऽनिष्टनैष्क्रम्यरसो म्लानतामरसोपमः ।
चचार विरसो धर्मं निवेश्याप्सरसो हृदि ॥२॥

उसको वैराग्य अच्छा नहीं लगा, वह कुम्हलाये हुए कमलके समान रस-रहित हो गया; (किंतु) अप्सराओंको हृदयमें रखकर उसने धर्माचरण किया । २

तथा लोलेन्द्रियो भूत्वा दयितेन्द्रियगोचरः ।
इन्द्रियार्थवशादेव बभूव नियतेन्द्रियः ॥३॥

उस प्रकार चञ्चलेन्द्रिय और विषयासक्त होकर भी उसने विषयोंकेलिए ही इन्द्रियोंका संयम किया । ३

कामचर्यासु कुशलो भिक्षुचर्यासु विक्लवः ।
परमाचार्यविष्टब्धो ब्रह्मचर्यं चचार सः ॥४॥

वह काम-चर्या (कामोपभोग) में निपुण और भिक्षु-चर्यामें असमर्थ था; किंतु उत्तम आचार्यका आश्रय पाकर उसने ब्रह्मचर्यका पालन किया । ४

---

* स्वर्गकी हीनता, स्वर्गके दोष ।

संवृतेन च शान्तेन तीव्रेण मदनेन च।
जलाग्नेरिव संसर्गाच्छशाम च शुशोष च ॥५॥

शान्त संयम (के पालन) से उसे शान्ति मिलती थी, जैसे जलके सम्पर्क से; और तीव्र काम-वासना (के उदय) से वह सूखता था, जैसे अग्निके सम्पर्क से। ५

स्वभावदर्शनीयोऽपि वैरूप्यमगमत्परं।
चिन्तयाप्सरसां चैव नियमेनायतेन च ॥६॥

यद्यपि वह स्वभावसे ही दर्शनीय था तो भी अप्सराओंकी चिन्ता और दीर्घ संयमके कारण उसका रूप अत्यन्त बदल गया। ६

प्रस्तवेष्वपि भार्यायां प्रियभार्यस्तथापि सः।
वीतराग इवातस्थौ न जहर्ष न चुक्षुभे ॥७॥

यद्यपि वह अपनी भार्याको उतना चाहता था तो भी उसकी चर्चा होनेपर वह वीतरागके समान स्थिर रहता था, उसे न हर्ष होता था और न क्षोभ। ७

तं व्यवस्थितमाज्ञाय भार्यारागात्पराङ्मुखं।
अभिगम्याब्रवीन्नन्दमानन्दः प्रणयादिदं ॥८॥

नन्दको भार्याकी आसक्तिसे विमुख और (नियमके पालनमें) स्थिर जानकर, आनन्दने उसके समीप जाकर प्रेमपूर्वक यों कहा:—८

अहो सदृशमारब्धं श्रुतस्याभिजनस्य च।
निगृहीतेन्द्रियः स्वस्थो नियमे यदि संस्थितः ॥९॥

"अहो! इन्द्रिय-निग्रह करके तुम स्वस्थ हो गये हो और नियम (के पालन) में स्थिर हो गये हो, यह तुमने अपने कुल और विद्याके अनुरूप ही आरम्भ किया है। ९

५—पा० 'जलाग्न्योरिव'। ७—पा० 'इवोत्तस्थौ'।

अभिष्वक्तस्य कामेषु रागिणो विषयात्मनः ।
यदियं संविदुत्पन्ना नेयमल्पेन हेतुना ॥१०॥

कामासक्त रागी और विषयात्मा व्यक्तिको जो यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है सो किसी अल्प हेतुसे नहीं । १०

व्याधिरल्पेन यत्नेन मृदुः प्रतिनिवार्यते ।
प्रबलः प्रबलैरेव यत्नैर्नश्यति वा न वा ॥११॥

कोमल (दुर्बल, साधारण) रोग अल्प यत्नसे ही दूरकर दिया जाता है, किन्तु प्रबल रोग प्रबल प्रयत्नसे ही नष्ट होता है या नहीं भी । ११

दुर्हरो मानसो व्याधिर्बलवांश्च तवाभवत् ।
विनिवृत्तो यदि ते सर्वथा धृतिमानसि ॥१२॥

तुम्हारा मानसिक रोग बलवान् और दुस्साध्य था; यदि वह (वास्तवमें) नष्ट हो गया है, तो तुम सब प्रकारसे धैर्यशाली हो ।१२

दुष्करं साध्वनार्येण मानिना चैव मार्दवं ।
अतिसर्गश्च लुब्धेन ब्रह्मचर्यं च रागिणा ॥१३॥

अनार्यकेलिए साधु-कर्म, अभिमानीकेलिए मृदु आचरण, लोभीकेलिए दान और रागीकेलिए ब्रह्मचर्य दुष्कर है । १३

एकस्तु मम संदेहस्तवास्यां नियमे धृतौ ।
अत्रानुनयमिच्छामि वक्तव्यं यदि मन्यसे ॥१४॥

नियम (के पालन) में तुम्हारी जो यह दृढ़ता (निष्ठा) है उसमें मुझे एक संदेह है यदि तुम कहने योग्य समझते हो तो मैं इस विषय में तुमसे अनुनय करना चाहता हूँ । १४

आर्जवाभिहितं वाक्यं न च मन्तव्यमन्यथा ।
रूक्षमप्याशये शुद्धे रूक्षतो नैति सज्जनः ॥१५॥

सरलता (साधुता) पूर्वक कहे गये वचनको अन्यथा नहीं समझना चाहिए। आशय शुद्ध होने पर रूखे वचनको भी सज्जन रूखा नहीं समझता है। १५

अप्रियं हि हितं स्निग्धमस्निग्धमहितं प्रियं।
दुर्लभं तु प्रियहितं स्वादु पथ्यमिवौषधं ॥१६॥

क्योंकि हितकारी अप्रिय वचन स्नेहसे परिपूर्ण (मित्रका) होता है और अहितकारी प्रिय वचन स्नेहसे रहित (अमित्रका) होता है, प्रिय भी हो और हितकर भी हो ऐसा वचन दुर्लभ है वैसे ही जैसे कि औषधि जो स्वादिष्ट भी हो और रोग-निवारक (स्वास्थ्य-प्रद) भी हो। १६

विश्वासश्चार्थचर्या च सामान्यं सुखदुःखयोः।
मर्षणं प्रणयश्चैव मित्रवृत्तिरियं सतां ॥१७॥

विश्वास, उपकार, सुख-दुःखमें समान भाव, क्षमा और प्रेम—यही तो सज्जनोंकी मित्रता है। १७

तदिदं त्वा विवक्षामि प्रणयान्न जिघांसया।
त्वच्छ्रेयो हि विवक्षा मे यतो नार्हाम्युपेक्षितुं ॥१८॥

इसलिए प्रेमके वशीभूत होकर, न कि तुम्हारी हिंसा करनेकी इच्छासे मैं तुम्हें कुछ कहना चाहता हूँ; मैं तुम्हें तुम्हारा श्रेय कहना चाहता हूँ; क्योंकि इसकी उपेक्षा करना मेरे लिए उचित नहीं है। १८

अप्सरोभृतको धर्मं चरसीत्यभिधीयसे।
किमिदं भूतमाहोस्वित्परिहासोऽयमीदृशः ॥१९॥

अप्सराओंको प्राप्त करनेकेलिए धर्माचरण करते हो, ऐसा लोग कहते हैं। क्या यह सत्य है? या यह परिहास है? १९

यदि तावदिदं सत्यं वक्ष्याम्यत्र यदौषधं ।
औद्धत्यमथ वक्तृणामभिधास्यामि तद्रजः ॥२०॥

यदि वास्तवमें यह सत्य है तो मैं इसकी औषधि बतलाऊँगा या यदि कहनेवालोंकी ढिठाई है तो मैं इसे उनका रजस् (दोष) कहूँगा। २०

श्लक्ष्णपूर्वमथो तेन हृदि सोऽभिहतस्तदा ।
ध्यात्वा दीर्घं निशश्वास किंचिच्चावाङ्मुखोऽभवत् ॥२१॥

तब उसके द्वारा अपने हृदयमें कोमलतापूर्वक आहत होकर उसने ध्यान (चिन्तन) किया और लम्बी साँस लेकर अपने मुखको कुछ नीचे कर लिया। २१

ततस्तस्येङ्गितं ज्ञात्वा मनःसंकल्पसूचकं ।
बभाषे वाक्यमानन्दो मधुरोदर्कमप्रियं ॥२२॥

तब उसके मानसिक-सङ्कल्प-सूचक सङ्केतको जानकर आनन्दने मधुर-फल-दायक यह अप्रिय वचन कहा :—२२

आकारेणावगच्छामि तव धर्मप्रयोजनं ।
यज्ज्ञात्वा त्वयि जातं मे हास्यं कारुण्यमेव च ॥२३॥

"तुम्हारी आकृतिसे ही तुम्हारे धर्माचरणका प्रयोजन जान लिया, जिसे जानकर तुम्हारे प्रति मुझे हँसी आती है और दया होती है। २३

यथासनार्थं स्कन्धेन कश्चिद्गुर्वीं शिलां वहेत् ।
तद्वत्त्वमपि कामार्थं नियमं वोढुमुद्यतः ॥२४॥

बैठनेकेलिए जैसे कोई आदमी अपने कन्धेपर भारी पत्थरको ढोये, वैसे ही तुम भी कामोपभोगकेलिए नियमको ढोने (पालन करने) में उद्यत हुए हो। २४

२०—पा० "तद्रजः" के स्थानमें "तत्त्वतः"।

तिताडयिषया दृप्तो यथा मेषोऽपसर्पति ।
तद्वदब्रह्मचर्याय ब्रह्मचर्यमिदं तव ॥२५॥

जैसे गर्वित भेड़ा चोट करनेकी इच्छासे पीछे हट जाता है वैसे ही तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य-पालन अब्रह्मचर्य (कामोपभोग) केलिए है। २५

चिक्रीषन्ति यथा पण्यं वणिजो लाभलिप्सया ।
धर्मचर्या तव तथा पण्यभूता न शान्तये ॥२६॥

जिस प्रकार व्यापारी लाभ उठानेके लिए सौदा (पण्य = विक्रेय वस्तु) खरीदना चाहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा यह धर्माचरण पण्य-स्वरूप (सौदाके समान) है, इससे शान्ति नहीं होगी। २६

यथा फलविशेषार्थं बीजं वपति कार्षकः ।
तद्वद्विषयकार्पण्याद्विषयांस्त्यक्तवानसि ॥२७॥

जिस प्रकार कृषक विशेष फल पानेकेलिए बीज बोता है उसी प्रकार विषयोंके लोभसे ही तुमने विषयोंका परित्याग किया है। २७

आकाङ्क्षेच्च यथा रोगं प्रतीकारसुखेप्सया ।
दुःखमन्विच्छति भवांस्तथा विषयतृष्णया ॥२८॥

जिस प्रकार (रोगके) प्रतीकारमें होनेवाला सुख प्राप्त करनेकी च्छासे कोई आदमी रोगकी अभिलाषा करे उसी प्रकार तुम विषयोंकी तृष्णासे दुःखकी खोज करते हो। २८

यथा पश्यति मध्वेव न प्रपातमवेक्षते ।
पश्यस्यप्सरसस्तद्वद्भ्रंशमन्ते न पश्यसि ॥२९॥

२५—पा० "सृप्तो"।

२९—मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ॥
—म० भा० स्त्रीपर्व, १।३७

जिस प्रकार (मनुष्य वृक्षपर) मधुको ही देखता है और (वृक्षसे) गिरनेके खतरेको नहीं, उसी प्रकार तुम अप्सराओंको तो देखते हो, किन्तु अन्तमें होनेवाले पतनको नहीं। २९

हृदि कालाग्निना दीप्ते कायेन वहतो व्रतं।
किमिदं ब्रह्मचर्यं ते मनसाब्रह्मचारिणः ॥३०॥

कामाग्निसे तुम्हारा हृदय जल रहा है और शरीरसे व्रतको ढो रहे हो। मनसे अब्रह्मचारी रहते हुए तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य कैसा ? ३०

संसारे वर्तमानेन यदा चाप्सरसस्त्वया।
प्राप्तास्त्यक्ताश्च शतशस्ताभ्यः किमिति ते स्पृहा ॥३१॥

संसारमें रहते हुए (जन्म-चक्रमें भटकते हुए) जब कि तुमने सैकड़ों बार अप्सराओंको पाया और खोया, तब फिर क्यों तुम्हें उनकी अभिलाषा होती है ? ३१

तृप्तिर्नास्तीन्धनैरग्नेर्नाम्भसा लवणाम्भसः।
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात्कामा न तृप्तये ॥३२॥

जलावनसे अग्निकी, जलसे समुद्रकी और कामोपभोगसे तृष्णावान्‌की तृप्ति नहीं है; इसलिए कामोपभोग तृप्तिदायक नहीं है। ३२

अतृप्तौ च कुतः शान्तिरशान्तौ च कुतः सुखं।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः ॥३३॥

तृप्ति नहीं होनेपर शान्ति कहाँ, शान्ति नहीं होनेपर सुख कहाँ, सुख नहीं होनेपर प्रीति कहाँ और प्रीति नहीं होनेपर रति (आनन्द) कहाँ ? ३३

रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः।
प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः ॥३४॥

इसलिए यदि तुम आनन्द चाहते हो तो अपने मनको

अध्यात्ममें लगाओ। शान्त एवं निर्दोष अध्यात्म-आनंदके समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है। ३४

न तत्र कार्यं तूर्यैस्ते न स्त्रीभिर्न विभूषणैः।
एकस्त्वं यत्रस्थस्तया रत्याभिरंस्यसे ॥३५॥

उस (अध्यात्म-रति) में तुम्हें संगीत (तूर्य = वाद्य-विशेष) स्त्रियों या आभूषणोंका काम नहीं होगा। जहाँ-तहाँ रहकर अकेले ही तुम उस (अध्यात्म-) आनन्दमें रमोगे। ३५

मानसं बलवद्दुःखं तर्षे तिष्ठति तिष्ठति।
तं तर्षं छिन्धि दुःखं हि तृष्णा चास्ति च नास्ति च ॥३६॥

जब तक तृष्णा रहेगी तब तक चित्तको अत्यन्त दुःख होगा। (इसलिए) उस तृष्णाको काटो; क्योंकि दुःख और तृष्णा एक साथ आते हैं और एक साथ जाते हैं। ३६

संपत्तौ वा विपत्तौ वा दिवा वा नक्तमेव वा।
कामेषु हि सतृष्णस्य न शान्तिरुपपद्यते ॥३७॥

समृद्धिमें या विपत्तिमें, दिनको या रातको, विषयोंकी तृष्णा रखनेवालेको (कभी) शान्ति नहीं होती है। ३७

कामानां प्रार्थना दुःखा प्राप्तौ तृप्तिर्न विद्यते।
वियोगान्नियतः शोको वियोगश्च ध्रुवो दिवि ॥३८॥

विषयोंकी खोजमें दुःख है, उनकी प्राप्ति होनेपर तृप्ति नहीं होती है, वियोग होनेपर शोक नियत है और स्वर्गमें उनका वियोग निश्चित है। ३८

कृत्वापि दुष्करं कर्म स्वर्गं लब्ध्वापि दुर्लभं।
नृलोकं पुनरेवैति प्रवासात्स्वगृहं यथा ॥३९॥

मनुष्य दुष्कर कर्म करके स्वग प्राप्त करता है और फिर मनुष्य-

लोकको ही लौट आता है, जैसे प्रवासके बाद अपने घरको लौटता हो । ३९

यदा भ्रष्टस्य कुशलं शिष्टं किंचिन्न विद्यते ।
तिर्यक्षु पितृलोके वा नरके चोपपद्यते ॥४०॥

(स्वर्गसे) गिरे हुएका थोड़ासा भी कुशल (पुण्य) शेष नहीं रहता है, इसलिए वह पशु-पक्षियोंकी योनिमें प्रेत-लोकमें या नरकमें उत्पन्न होता है । ४०

तस्य भुक्तवतः स्वर्गे विषयानुत्तमानपि ।
भ्रष्टस्यार्तस्य दुःखेन किमास्वादः करोति सः ॥४१॥

स्वर्गमें उत्तम विषयोंको भोगनेके बाद वहाँसे गिरकर वह अत्यन्त दुःखी हो जाता है, उस समय (उन विषयोंका) वह आस्वाद उसका क्या (उपकार) करता है ? ४१

श्येनाय प्राणिवात्सल्यात्स्वमांसान्यपि दत्तवान् ।
शिबिः स्वर्गात्परिभ्रष्टस्तादृक्कृत्वापि दुष्करं ॥४२॥

प्राणियोंके प्रति (अतिशय) स्नेह होनेके कारण शिबिने बाज (पक्षी) को अपने शरीरका मांस भी दे दिया, ऐसा दुष्कर कर्म करके भी वह (पुण्य क्षीण होने पर) स्वर्गसे च्युत हुआ । ४२

शक्रस्यार्धासनं गत्वा पूर्वपार्थिव एव यः ।
स देवत्वं गतः काले मान्धाताधः पुनर्ययौ ॥४३॥

जिस प्राचीन राजा मान्धाताने इन्द्रका आधा आसन प्राप्त किया वह देवत्वको प्राप्त होकर भी समय होनेपर नीचे (पृथ्वीपर ही) लौट आया । ४३

४३—पा० 'सदेवत्वं गते'

राज्यं कृत्वापि देवानां पपात नहुषो भुवि।
प्राप्तः किल भुजंगत्वं नाद्यापि परिमुच्यते ॥४४॥

नहुषने देवताओंके ऊपर राज्य किया, तो भी वह (स्वर्गसे) पृथ्वीपर गिर कर सर्प हो गया और अब तक (उस योनिसे) मुक्त नहीं हुआ। ४४

तथैवेलिविलो राजा राजवृत्तेन संस्कृतः।
स्वर्गं गत्वा पुनर्भ्रष्टः कूर्मीभूतः किलार्णवे ॥४५॥

उसी प्रकार राजा इलिविल, जो राजोचित आचरणसे शुद्ध (पवित्र) हो गया था, स्वर्ग चला गया और फिर (वहाँ से) गिरकर समुद्रमें कछुआ हो गया। ४५

भूरिद्युम्नो ययातिश्च ते चान्ये च नृपर्षभाः।
कर्मभिर्द्यामभिक्रीय तत्क्षयात्पुनरत्यजन् ॥४६॥

भूरिद्युम्न, ययाति और दूसरे राजर्षियोंने अपने कर्मोंसे स्वर्गको खरीदा और उन (कर्मों) के क्षीण होनेपर फिर उस (स्वर्ग) का परित्याग किया। ४६

असुराः पूर्वदेवास्तु सुरैरपहृतश्रियः।
श्रियं समनुशोचन्तः पातालं शरणं ययुः ॥४७॥

असुरगण पूर्व कालमें देवता थे, जब सुरोंने उनकी राज्य-लक्ष्मीका हरण किया तो वे लक्ष्मीके लिए शोक करते हुए पातालकी शरणमें चले गये। ४७

किं च राजर्षिभिस्तावदसुरैर्वा सुरादिभिः।
महेन्द्राः शतशः पेतुर्माहात्म्यमपि न स्थिरं ॥४८॥

४५—'इलिविल' पाठ अनिश्चित है या कथा अज्ञात है।

राजर्षियों, असुरों सुरों और दूसरोंका क्या कहना ? शत शत महेन्द्र (इन्द्र-लोकसे) च्युत हुए, जो महान्से महान् हैं वे भी चिर-स्थायी नहीं हैं। ४८

संसदं शोभयित्वैन्द्रीमुपेन्द्रश्चेन्द्रविक्रमः।
क्षीणकर्मा पपातोर्वीं मध्यादप्सरसां रसन् ॥४९॥

इन्द्रके समान पराक्रमी उपेन्द्र, जिसने इन्द्रकी सभाको सुशोभित किया था, अपने कर्मोंके क्षीण होनेपर अप्सराओंके बीचसे रोता हुआ पृथ्वी पर गिरा। ४९

हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये।
इत्यार्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥५०॥

हा चैत्ररथ (वन) ! हा वापी (सरोवर) ! हा मन्दाकिनी ! हा प्रिये ! इस प्रकार आर्त होकर विलाप करते हुए स्वर्गके रहनेवाले पृथ्वीपर गिरते हैं। ५०

तीव्रं ह्युत्पद्यते दुःखमिह तावन्मुमूर्षतां।
किं पुनः पततां स्वर्गादेवान्ते सुखसेविनां ॥५१॥

यहाँ (इस पृथ्वीपर) मरण-कालमें मनुष्योंको तीव्र दुःख होता है, फिर अन्तमें स्वर्गसे गिरते हुए (स्वर्ग-) सुख-सेवियोंके दुःखका क्या कहना ? ५१

रजो गृह्णन्ति वासांसि म्लायन्ति परमाः स्रजः।
गात्रेभ्यो जायते स्वेदो रतिर्भवति नासने ॥५२॥

उनके कपड़े धूलसे मलिन हो जाते हैं, उनकी उत्तम मालाएँ

४९—पा० '० मुपेन्द्रश्च त्रिविक्रमः'

५२—पा० 'नाशने'

मुरझा जाती हैं, शरीरसे पसीना निकलता है और वहाँ रहनेमें (या सुख भोगने) में उन्हें आनन्द नहीं मिलता है। ५२

एतान्यादौ निमित्तानि च्युतौ स्वर्गाद्दिवौकसां।
अनिष्टानीव मर्त्यानामरिष्टानि मुमूर्षतां ॥५३॥

स्वर्गसे गिरते समय स्वर्गवासियोंके ये पूर्व लक्षण देख पड़ते हैं, जैसे कि मृत्यु-कालमें मनुष्योंके अनिष्ट लक्षण देखे जाते हैं। ५३

सुखमुत्पद्यते यच्च दिवि कामानुपाश्नतां।
यच्च दुःखं निपततां दुःखमेव विशिष्यते ॥५४॥

स्वर्गमें कामोपभोग करते समय जो सुख होता है और वहाँसे गिरते समय जो दुःख होता है, सो (सुखसे) दुःख ही अधिक है। ५४

तस्मादस्वन्तमत्राणमविश्वास्यमतर्पकं।
विज्ञाय क्षयिणं स्वर्गमपवर्गे मतिं कुरु॥५५॥

इसलिए, स्वर्ग परिणाममें अच्छा नहीं है, वह रक्षा नहीं करता, वह विश्वसनीय और तृप्ति-दायक नहीं है, वह नाशवान् (क्षणिक) है, ऐसा जानकर मोक्षमें अपने मनको लगाओ। ५५

५६-५७ — निम्नलिखित दोनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं :—

अशरीरं भवाग्रं हि गत्वापि मुनिरुद्रकः।
कर्मणोऽन्ते च्युतस्तस्मात् तिर्यग्योनिं प्रपत्स्यते ॥५६॥

शरीर-रहित उत्तम जन्म (अरूप लोक) को प्राप्त होकर भी उद्रक मुनि अपने कर्मोंका अन्त होनेपर वहाँसे गिरकर पशु-पक्षियोंकी योनिमें गिरेगा। ५६

मैत्रया सप्तवार्षिक्या ब्रह्मलोकमितो गतः।
सुनेत्रः पुनरावृत्तो गर्भवासमुपेयिवान् ॥५७॥

सात वर्षों तक मैत्री-भावना करके सुनेत्र यहाँसे ब्रह्मलोकको गया और फिर लौटकर उसने गर्भमें निवास किया। ५७

यदा चैश्वर्यवन्तोऽपि क्षयिणः स्वर्गवासिनः ।
को नाम स्वर्गवासाय क्षेष्णवे स्पृहयेद्बुधः ॥५८॥

जब कि ऐश्वर्यशाली स्वर्ग-निवासी भी स्थायी नहीं हैं, तब कौन बुद्धिमान् मनुष्य क्षणिक स्वर्ग-निवासकी अभिलाषा करे ? ५८

सूत्रेण बद्धो हि यथा विहंगो व्यावर्तते दूरगतोऽपि भूयः ।
अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो गतोऽपि दूरं पुनरेति लोकः ॥५६॥

जिस प्रकार सूतेसे बँधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी फिर लौट आता है, उसी प्रकार अज्ञान-सूत्रसे बँधा हुआ मनुष्य दूर जाकर भी लौट आता है। ५६

कृत्वा कालविलक्षणं प्रतिभुवा मुक्तो यथा बन्धनाद्
भुक्त्वा वेश्मसुखान्यतीत्य समयं भूयो विशेद्बन्धनं ।
तद्वद्द्यां प्रतिभूवदात्मनियमैर्ध्यानादिभिः प्राप्तवान्
काले कर्मसु तेषु भुक्तविषयेष्वाकृष्यते गां पुनः ॥६०॥

जिस प्रकार निश्चित समयके लिए मनुष्य प्रतिभू (जमानतदार) के द्वारा बन्धन (जेल) से मुक्त होता है और घरके सुखोंको भोगकर, समय बीतनेके बाद, पुनः बंधनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार मनुष्य आत्मनियम एवं ध्यान आदिके द्वारा, जैसे प्रतिभूके द्वारा, स्वर्ग प्राप्त करता है और उन कर्मोंका फल भोगनेके बाद समय होनेपर वह फिर पृथ्वीपर घसीट लाया जाता है। ६०

अन्तर्जालगताः प्रमत्तमनसो मीनास्तडागे यथा
जानन्ति व्यसनं न रोधजनितं स्वस्थाश्चरन्त्यम्भसि ।
अन्तर्लोकगताः कृतार्थमतयस्तद्वद्दिवि ध्यायिनो
मन्यन्ते शिवमच्युतं ध्रुवमिति स्वं स्थानमावर्तकं ॥६१॥

पोखरमें जालके भीतर असावधान मछलियाँ घेरेसे उत्पन्न हुए खतरेको नहीं जानती हैं और प्रसन्नतापूर्वक जलमें विचरण करती हैं, उसी प्रकार इस लोकमें रहकर स्वर्गका ध्यान करनेवाले (स्वर्गमें प्राप्त होनेवाले) अपने विनाशवान् स्थानको ही मङ्गलमय अविनाशी और स्थिर मानते हैं और अपनेको कृतार्थ समझते हैं। ६१

तज्जन्मव्याधिमृत्युव्यसनपरिगतं मत्वा जगदिदं
संसारे भ्राम्यमाणं दिवि नृषु नरके तिर्यक्पितृषु च।
यत्त्राणं निर्भयं यच्छिवममरजरं निःशोकममृतं
तद्धेतोर्ब्रह्मचर्यं चर जहि हि चलं स्वर्गं प्रति रुचिं ॥६२

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्वर्गापवादो नामैकादशः सर्गः।

इसलिए यह जानकर कि जन्म-मरण और रोगसे घिरा हुआ यह जगत् जन्म चक्रमें—स्वर्ग नरक पशु-पक्षियोंकी योनि, मनुष्य-लोक और पितृ-लोकमें—भटक रहा है, जो जरा मरण शोक और भयसे रहित है, जो त्राण (रक्षा) करने वाला, कल्याण-कारी और अमृत है उसीके लिए ब्रह्मचर्यका आचरण करो और अस्थायी स्वर्गके प्रति अपनी इच्छाको छोड़ो। ६२

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "स्वर्गकी निन्दा"
नामक एकादश सर्ग समाप्त।

द्वादश सर्ग

विवेक

अप्सरोभृतको धर्मं चरसीत्यथ चोदितः ।
आनन्देन तदा नन्दः परं व्रीडमुपागमत् ॥१॥

'अप्सराओंको प्राप्त करनेके लिए धर्माचरण कर रहे हो' आनन्दके द्वारा इस प्रकार कहा जानेपर नन्द अत्यंत लज्जित हुआ। १

तस्य व्रीडेन महता प्रमोदो हृदि नाभवत्।
अप्रामोद्येन विमुखं नावतस्थे व्रते मनः ॥२॥

उसके अत्यंत लज्जित होनेके कारण उसके हृदयमें आनन्द नहीं हुआ। आनन्द नहीं होनेके कारण उसका उदास मन व्रतमें नहीं लगा। २

कामरागप्रधानोऽपि परिहाससमोऽपि सन्।
परिपाकगते हेतौ न स तन्ममृषे वचः ॥३॥

यद्यपि उसमें कामरागकी प्रधानता थी और यद्यपि वह परिहास-की पर्वाह नहीं करता था, तो भी हेतुका परिपाक होनेके कारण वह उस वचनको नहीं सह सका। ३

अपरीक्षकभावाच्च पूर्वं मत्वा दिवं ध्रुवं ।
तस्मात्क्षेष्णुं परिश्रुत्य भृशं संवेगमेयिवान् ॥४॥

ठीक ठीक नहीं देख सकनेके कारण उसने पूर्वमें स्वर्ग (के भोगों)

३— पा० 'सहोऽपि'

को ध्रुव समझा था, किंतु अब आनन्दसे उसकी अनित्यताके बारेमें सुनकर उसको अत्यन्त संवेग (भय, वैराग्य) हुआ । ४

तस्य स्वर्गान्निववृते संकल्पाश्वो मनोरथः ।
महारथ इवोन्मार्गादप्रमत्तस्य सारथेः ॥५॥

उसका मनोरथ, सङ्कल्प ही जिसके घोड़े हैं, स्वर्गकी ओरसे लौट गया, जैसे सावधान रहनेवाले सारथिका महारथ कुमार्गसे लौट आता है । ५

स्वर्गतर्षान्निवृत्तश्च सद्यः स्वस्थ इवाभवत् ।
मृष्टादपथ्याद्विरतो जिजीविषुरिवातुरः ॥६॥

स्वर्गकी तृष्णाके नष्ट होने पर वह तुरत स्वस्थ-जैसा हो गया, जैसे कि जीवित रहनेकी इच्छा करनेवाला रोगी स्वादिष्ट अपथ्यसे विरत होकर स्वस्थ हो जाता है । ६

विसस्मार प्रियां भार्यामप्सरोदर्शनाद्यथा ।
तथानित्यतयोद्विग्नस्तत्याजाप्सरसोऽपि सः ॥७॥

जैसे अप्सराओंको देखकर वह अपनी प्यारी भार्याको भूल गया था, वैसे ही (स्वर्गके भोगोंकी) अनित्यतासे उद्विग्न होकर उसने अप्सराओंको (प्राप्त करनेकी इच्छाको) भी छोड़ दिया । ७

महतामपि भूतानामावृत्तिरिति चिन्तयन् ।
संवेगाच्च सरागोऽपि वीतराग इवाभवत् ॥८॥

बड़े बड़े प्राणियों (महापुरुषों)को भी (इस लोकमें) लौटना पड़ता है, इस प्रकार वह चिंता करने लगा और संवेग (भय, वैराग्य) होनेके कारण वह रागी (कामी) भी वीतराग-जैसा हो गया । ८

६—पा० 'मिष्टा०' । मृष्टमन्नम् = उत्तम भोजन (वा० रा० १ । १८ । ३०-३१)

बभूव स हि संवेगः श्रेयसस्तस्य वृद्धये।
धातुरेधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकैः ॥९॥

वह संवेग उसके कल्याणकी वृद्धिकेलिए हुआ, जैसे शब्द-शास्त्रियों (वैयाकरणों) के अनुसार एधि धातुकी धातु-रूपमें वृद्धि होती है। ९

न तु कामान्मनस्तस्य केनचिज्जगृहे धृतिः।
त्रिषु कालेषु सर्वेषु निपातोऽस्तिरिव स्मृतः ॥१०॥

कामके कारण उसके मनमें किसी भी प्रकारसे किसी भी समयमें धैर्य नहीं हुआ (अर्थात् उसकी मानसिक चञ्चलता सदा बनी ही रही), जिस प्रकार 'अस्ति' निपातका प्रयोग (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों ही कालमें बताया जाता है। १०

खेलगामी महाबाहुर्गजेन्द्र इव निर्मदः।
सोऽभ्यगच्छद्गुरुं काले विवक्षुर्भावमात्मनः ॥११॥

मंदगामी गजेन्द्रके सामने वह महाबाहु मद-मुक्त होकर समयपर गुरुके समीप अपना अभिप्राय बतलानेकी इच्छासे गया। ११

प्रणम्य च गुरौ मूर्ध्ना बाष्पव्याकुललोचनः।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥१२॥

उसने शिर नवाकर गुरुको प्रणाम किया। उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और हाथ जोड़कर, लज्जावश कुछ अधोमुख होकर यों कहा:—१२

९—'एत्येधत्यूठ्सु' अष्टा० ६।१।८९। पा० 'धातोरधि०' धातुके पूर्व अधि उपसर्ग लगानेसे (अर्थमें) बृद्धि होती है। जैसे ∠इ = जाना; किंतु अधि + इ = अध्ययन करना; देखिये रघु० पन्द्रह ९।

१०—पा० 'कामात्मनः'।

अप्सरः प्राप्तये यन्मे भगवन्प्रतिभूरसि।
नाप्सरोभिर्ममार्थोऽस्ति प्रतिभूत्वं त्यजाम्यहं ॥१३॥

"हे भगवन्, अप्सराओंकी प्राप्तिकेलिए आप मेरा प्रतिभू (जमानतदार) हैं, मुझे अब अप्सराओंसे प्रयोजन नहीं है, इसलिए मैं प्रतिभूत्व (जमानत) का परित्याग करता हूँ। १३

श्रुत्वा ह्यावर्तकं स्वर्गं संसारस्य च चित्रतां।
न मर्त्येषु न देवेषु प्रवृत्तिर्मम रोचते ॥१४॥

स्वर्गसे लौटना पड़ता है और संसार (की गति) विचित्र है, ऐसा सुनकर मर्त्य-लोक या देव-लोकमें, कहीं भी रहना (जन्म लेना, रमण करना) मुझे पसन्द नहीं है। १४

यदि प्राप्य दिवं यत्नान्नियमेन दमेन च।
अवितृप्ताः पतन्त्यन्ते स्वर्गाय त्यागिने नमः ॥१५॥

यदि प्रयत्नपूर्वक संयम व इन्द्रिय-दमनके द्वारा स्वर्गको प्राप्त कर लोग वहाँसे अतृप्त ही गिरते हैं तो मैं उस क्षण-भङ्गुर स्वर्गको प्रणाम करता हूँ। १५

अतश्च निखिलं लोकं विदित्वा सचराचरं।
सर्वदुःखक्षयकरे त्वद्धर्मे परमे रमे ॥१६॥

अतः चराचर-सहित सम्पूर्ण लोकका ज्ञान प्राप्तकर मैं सब दुःखों-का अन्त करनेवाले आपके ही परम धर्ममें आनन्द पाता हूँ। १६

तस्माद्व्याससमासाभ्यां तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
यच्छ्रुत्वा शृण्वतां श्रेष्ठ परमं प्राप्नुयां पदं ॥१७॥

इसलिए विस्तार और संक्षेपसे कृपया मुझे वह बतलावें, जिसे सुनकर, हे श्रोता-श्रेष्ठ, मैं परम पद प्राप्त करूँ। १७

१६—पा० 'सचराचरं' के स्थान में 'सुचलाचलं'—जौन्स्टन।

ततस्तस्याशयं ज्ञात्वा विपक्षाणीन्द्रियाणि च ।
श्रेयश्चैवामुखीभूतं निजगाद तथागतः ॥१८॥

तब उसका आशय जानकर, उसके इन्द्रियोंको वशीभूत और श्रेयको समीपवर्ती समझकर तथागतने कहा :—१८

अहो प्रत्यवमर्शोऽयं श्रेयसस्ते पुरोजवः ।
अरण्यां मथ्यमानायामग्नेर्धूम इवोत्थितः ॥१९॥

"अहो, तुम्हारा विवेक तुम्हारे श्रेयका पुरोगामी है, जैसे अरणियोंको रगड़नेसे उठा हुआ धुआँ अग्निका अग्रदूत होता है। १९

चिरमुन्मार्गविहृतो लोलैरिन्द्रियवाजिभिः ।
अवतीर्णोऽसि पन्थानं दिष्ट्या दृष्ट्यविमूढया ॥२०॥

चञ्चल इन्द्रियरूपी घोड़ों द्वारा तुम चिरकालतक कुमार्गपर चले हो, किन्तु अब सौभाग्यसे सम्यक् दृष्टि द्वारा सन्मार्ग पर उतरे हो।२०

अद्य ते सफलं जन्म लाभोऽद्य सुमहांस्तव ।
यस्य कामरसज्ञस्य नैष्कर्म्यायोत्सुकं मनः ॥२१॥

आज तुम्हारा जन्म सफल है और आज तुम्हारा महान् लाभ है जो काम-रसका आस्वाद करके तुम्हारा मन वैराग्यकेलिए उत्सुक है। २१

लोकेऽस्मिन्नालयारामे निवृत्तौ दुर्लभा रतिः ।
व्यथन्ते ह्यपुनर्भावात्प्रपातादिव बालिशाः ॥२२॥

१८—विपक्ष = पक्ष-रहित, सहाय-रहित, स्थिर, वशीभूत। जौन्स्टनने इसका अर्थ 'विपरीत' किया है।

२२—आलय = लीन होना, आसक्त होना, विषय, भोग। प्रपात = पर्वतका खड़ा किनारा, जहाँसे गिरनेसे मृत्यु होती है।

भोगोंमें आनन्द पानेवाले इस लोकमें निवृत्तिमें रति होना दुर्लभ है, क्योंकि मूर्ख जन्म-विनाश (मोक्ष) से ऐसे डरते हैं जैसे प्रपातसे। २२

दुःखं न स्यात्सुखं मे स्यादिति प्रयतते जनः।
अत्यन्तदुःखोपरमं सुखं तच्च न बुध्यते ॥२३॥

'मुझे दुःख न हो, मुझे सुख हो' इसकेलिए मनुष्य यत्न करता है; किंतु वह यह नहीं जानता है कि दुःखका अत्यन्त निरोध ही सुख है। २३

अरिभूतेष्वनित्येषु सततं दुःखहेतुषु।
कामादिषु जगत्सक्तं न वेत्ति सुखमव्ययं ॥२४॥

शत्रु-स्वरूप, अनित्य और दुःख-जनक काम-आदि (विषय,भोग) में जगत् निरन्तर आसक्त रहता है और वह अविनाशी सुखको नहीं जानता है। २४

सर्वदुःखापहं तत्तु हस्तस्थममृतं तव।
विषं पीत्वा यदगदं समये पातुमिच्छसि ॥२५॥

विष-पान करके, समयपर जिस विष-नाशक औषधको पीना चाहते हो वह सर्व-दुःख-विनाशक अमृत तुम्हारे हाथमें है। २५

अनर्हसंसारभयं मानार्हं ते चिकीर्षितं।
रागाग्निस्तादृशो यस्य धर्मोन्मुख पराङ्मुखः ॥२६॥

तुम्हारा अभिप्राय सम्मानके योग्य है, क्योंकि इसमें संसारके भयकेलिए स्थान नहीं है। हे धर्मकी ओर अग्रसर होनेवाले, तुम्हारी वह वैसी रागाग्नि अब विमुख हो गई। २६

रागोद्दामेन मनसा सर्वथा दुष्करा धृतिः।
सदोषं सलिलं दृष्ट्वा पथिनेव पिपासुना ॥२७॥

रागके कारण उच्छृङ्खल चित्तकेलिए धैर्य धारण करना सब प्रकारसे दुष्कर है, जैसे दूषित जलको (भी) देखकर प्यासे पथिकके लिए धैर्य रखना कठिन है। २७

ईदृशी नाम बुद्धिस्ते निरुद्धा रजसाभवत्।
रजसा चण्डवातेन विवस्वत इव प्रभा ॥२८॥

तुम्हारी यह ऐसी बुद्धि रजोगुणसे ढकी (अवरुद्ध) थी, जैसे आँधीकी धूलसे सूर्यकी प्रभा छिपी रहती है। २८

सा जिघांसुस्तमो हार्दं या संप्रति विजृम्भते।
तमो नैशं प्रभा सौरी विनिर्गीर्णेव मेरुणा ॥२९॥

तुम्हारी यह बुद्धि, जो अभी विकसित हो रही है, तुम्हारे हृदयका अज्ञान नष्ट करना चाहती है, जैसे मेरु-पर्वतसे निकली सूर्यकी प्रभा (चारों ओर) फैलकर रात्रिके अन्धकारको दूर करती है। २९

युक्तरूपमिदं चैव शुद्धसत्त्वस्य चेतसः।
यत्ते स्यान्नैष्ठिके सूक्ष्मे श्रेयसि श्रद्दधानता ॥३०॥

यह तुझ पवित्रतात्माके चित्तके ही अनुरूप है कि सूक्ष्म एवं नैष्ठिक श्रेयमें तुम्हारी श्रद्धा उत्पन्न हुई है। ३०

धर्मच्छन्दमिमं तस्माद्विवर्धयितुमर्हसि।
सर्वधर्मा हि धर्मज्ञ नियमाच्छन्दहेतवः ॥३१॥

इसलिए तुम्हें धर्मकी इस इच्छाको बढ़ाना चाहिए; क्योंकि सब धर्मों (तत्वों) का कारण, हे धर्मज्ञ, इच्छा ही है। ३१

सत्यां गमनबुद्धौ हि गमनाय प्रवर्तते।
शय्याबुद्धौ च शयनं स्थानबुद्धौ तथा स्थितिः ॥३२॥

क्योंकि चलनेकी बुद्धि (इच्छा) होनेपर मनुष्य चलनेमें प्रवृत्त

होता है, सोनेकी बुद्धि होनेपर सोता है और खड़ा होनेकी बुद्धि होनेपर खड़ा होता है। ३२

अन्तर्भूमिगतं ह्यम्भः श्रद्दधाति नरो यदा।
अर्थित्वे सति यत्नेन तदा खनति गामिमां ॥३३॥

पृथ्वीके भीतर जल है, यह श्रद्धा (विश्वास) जब मनुष्यको होती है, तब प्रयोजन होनेपर वह प्रयत्नपूर्वक पृथ्वीको खनता है। ३३

नार्थी यद्यग्निना वा स्याच्छ्रद्दध्यात्तं न वारणौ।
मथ्नीयान्नारणिं कश्चित्तद्भावे सति मथ्यते ॥३४॥

यदि अग्निसे प्रयोजन न हो, या यदि अरणि (काष्ठ) में अग्नि है यह श्रद्धा (विश्वास) न हो तो कोई भी मनुष्य अरणिको न रगड़ेगा; किंतु उस (श्रद्धा और प्रयोजन) के होनेपर उसे रगड़ते हैं। ३४

सस्योत्पत्तिं यदि न वा श्रद्दध्यात्कार्षकः क्षितौ।
अर्थी सस्येन वा न स्याद् बीजानि न वपेद् भुवि ॥३५॥

भूमिसे अन्नकी उत्पत्ति होगी, यदि यह श्रद्धा कृषकको न हो या यदि अन्नसे उसे प्रयोजन न हो, तो वह भूमिमें बीज न बोयेगा। ३५

अतश्च हस्त इत्युक्ता मया श्रद्धा विशेषतः।
यस्माद्गृह्णाति सद्धर्मं दायं हस्त इवाक्षतः ॥३६॥

जैसे हाथ दान ग्रहण करता है, वैसे ही श्रद्धा सद्धर्मको ग्रहण करती है; इसलिए मैंने श्रद्धाको विशेष रूपसे हाथ कहा है। ३६

प्राधान्यादिन्द्रियमिति स्थिरत्वाद्बलमित्यतः।
गुणदारिद्र्यशमनाद्धनमित्यभिवर्णिता ॥३७॥

३६—'अक्षतः' पाठ अनिश्चित है।

प्रधान होनेके कारण इसे (श्रद्धाको) इन्द्रिय, स्थिर होनेके कारण इसे बल और गुणोंकी दरिद्रता दूर करनेके कारण इसे धन बतलाया गया है। ३७

रक्षणार्थेन धर्मस्य तथेषीकेत्युदाहृता।
लोकेऽस्मिन्दुर्लभत्वाच्च रत्नमित्यभिभाषिता ॥३८॥

उसी प्रकार धर्मकी रक्षा कर सकनेके कारण इसे ईषिका (नामक अस्त्र-विशेष), और इस लोक में दुर्लभ होनेके कारण इसे रत्न कहा गया है। ३८

पुनश्च बीजमित्युक्ता निमित्तं श्रेयसो यदा।
पावनार्थेन पापस्य नदीत्यभिहिता पुनः ॥३९॥

फिर श्रेयका निमित्त होनेके कारण बीज और पापको पवित्र कर सकनेके कारण नदी (तीर्थ) कहा गया है। ३९

यस्माद्धर्मस्य चोत्पत्तौ श्रद्धा कारणमुत्तमं।
मयोक्ता कार्यतस्तस्मात्तत्र तत्र तथा तथा ॥४०॥

क्योंकि धर्मकी उत्पत्तिमें श्रद्धा उत्तम कारण है, इसलिए मैंने इसके कार्यके अनुसार इसे ये (उपर्युक्त) नाम दिये हैं। ४०

श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात्संवर्धयितुमर्हसि।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः ॥४१॥

इसलिए इस श्रद्धा-अंकुरको तुम्हें बढ़ाना चाहिये, क्योंकि इसके बढ़नेसे धर्म वैसे ही बढ़ता है जैसे जड़के बढ़नेसे वृक्ष। ४१

व्याकुलं दर्शनं यस्य दुर्बलो यस्य निश्चयः।
तस्य पारिप्लवा श्रद्धा न हि कृत्याय वर्तते ॥४२॥

३९—पा० 'श्रेयसोत्पदा' 'श्रेयसो यतः'।

जिसका विचार (दृष्टि) आकुल है, जिसका निश्चय दुर्बल है उसकी चञ्चल श्रद्धा सफलताके लिये नहीं है। ४२

यावत्तत्त्वं न भवति हि दृष्टं श्रुतं वा
तावच्छ्रद्धा न भवति बलस्था स्थिरा वा।
दृष्टे तत्त्वे नियमपरिभूतेन्द्रियस्य
श्रद्धावृक्षो भवति सफलश्चाश्रयश्च॥४३॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये प्रत्यवमर्शो नाम द्वादशः सर्गः।

जब तक मनुष्य तत्त्वको देख या सुन नहीं लेता है, तब तक उसकी श्रद्धा बलवती या स्थिर नहीं होती है। संयमके द्वारा इन्द्रियोंको जीतकर जिसको तत्त्वका दर्शन होता है उसका श्रद्धा-रूपी वृक्ष फल और आश्रय देता है। ४३

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "विवेक" नामक
द्वादश सर्ग समाप्त।

त्रयोदश सर्ग

शील और इन्द्रिय-संयम

अथ संराधितो नन्दः श्रद्धां प्रति महर्षिणा ।
परिषिक्तोऽमृतेनेव युयुजे परया मुदा ॥१॥

तब महर्षिके द्वारा श्रद्धा (को सबल एवं स्थिर बनाने) के प्रति प्रेरित (प्रोत्साहित) होकर नन्दको बड़ा आनन्द हुआ, जैसे वह अमृतसे नहवाया गया हो । १

कृतार्थमिव तं मेने संबुद्धः श्रद्धया तया ।
मेने प्राप्तमिव श्रेयः स च बुद्धेन संस्कृतः ॥२॥

बुद्धने उस श्रद्धाके कारण नन्दको कृतार्थ-सा समझा और बुद्धसे दीक्षित होकर नन्दने श्रेय (अपने चरम लक्ष्य) को उपस्थित-सा समझा । २

श्लक्ष्णेन वचसा कांश्चित्कांश्चित्परुषया गिरा ।
कांश्चिदाभ्यामुपायाभ्यां स विनिन्ये विनायकः ॥३॥

कतिपयोंको कोमल वचनसे, कतिपयोंको कठोर वचनसे और कतिपयोंको दोनों ही उपायोंसे विनायकने विनीत (दीक्षित) किया । ३

पांसुभ्यः काञ्चनं जातं विशुद्धं निर्मलं शुचि ।
स्थितं पांसुष्वपि यथा पांसुदोषैर्न लिप्यते ॥४॥

जैसे धूलसे पैदा होनेवाला सोना विशुद्ध निर्मल और पवित्र होता है और धूलमें रहकर भी वह धूलके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है, ४

पद्मपर्णं यथा चैव जले जातं जले स्थितं।
उपरिष्टादधस्ताद्वा न जलेनोपलिप्यते ॥५॥

और जैसे जलमें उत्पन्न होकर जलमें ही रहनेवाला कमलका पत्ता ऊपर या नीचे जलसे लिप्त नहीं होता है, ५

तद्वल्लोके मुनिर्जातो लोकस्यानुग्रहं चरन्।
कृतित्वान्निर्मलत्वाच्च लोकधर्मैर्न लिप्यते ॥६॥

वैसे ही संसारमें उत्पन्न होकर, संसारके ऊपर अनुग्रह करते हुए, मुनि अपनी पवित्रता एवं निर्मलताके कारण सांसारिक धर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं। ६

श्लेषं त्यागं प्रियं रूक्षं कथां च ध्यानमेव च।
मन्तुकाले चिकित्सार्थं चक्रे नात्मानुवृत्तये ॥७॥

उपदेश-कालमें उन्होंने, चिकित्साकेलिए न कि अपनी अनुकूलताकेलिए, आलिङ्गन और परित्याग, प्यार और रूखापन, कथा और ध्यानका सहारा लिया। ७

अतश्च संदधे कायं महाकरुणया तया।
मोचयेयं कथं दुःखात्सत्त्वानीत्यनुकम्पकः ॥८॥

और इसलिए 'जीवोंको दुःखसे कैसे छुड़ाऊँ' इस प्रकार अनुकम्पा करते हुए उन्होंने महाकरुणाके वशीभूत होकर शरीर धारण किया। ८

अथ संहर्षणान्नन्दं विदित्वा भाजनीकृतं।
अब्रवीद्ब्रुवतां श्रेष्ठः क्रमज्ञः श्रेयसां क्रमं ॥९॥

तब अपनी प्रेरणा (प्रोत्साहन) के फलस्वरूप नन्दको पात्र

७—पा० 'मन्त्रकाले'।

(योग्य) हुआ समझकर, क्रमको जाननेवाले वक्ता-श्रेष्ठने श्रेयका क्रम बतलाया :— ६

अतः प्रभृति भूयस्त्वं श्रद्धेन्द्रियपुरःसरः ।
अमृतस्याप्तये सौम्य वृत्तं रक्षितुमर्हसि ॥१०॥

"अबसे तुम श्रद्धारूपी साधनसे सुसज्जित होकर, हे सौम्य, अमृतकी प्राप्तिकेलिए अपने आचार (शील) की रक्षा करो। १०

प्रयोगः कायवचसोः शुद्धो भवति ते यथा ।
उत्तानो विवृतो गुप्तोऽनवच्छिद्रस्तथा कुरु ॥११॥

ऐसा करो जिससे तुम्हारे शरीर और वचनका व्यापार (कर्म) शुद्ध होकर प्रकट (स्पष्ट), आवरण-रहित (खुला हुआ), सुरक्षित और निर्दोष हो जाय ; ११

उत्तानो भावकरणाद्विवृतश्चाप्यगूहनात् ।
गुप्तो रक्षणतात्पर्यादच्छिद्रश्चानवद्यतः ॥१२॥

अपने भावोंको स्पष्ट करनेसे प्रकट, कुछ भी नहीं छिपानेसे आवरण-रहित, रक्षण (इन्द्रिय-संवर) में तत्परता दिखलानेसे सुरक्षित और दोष-रहित होनेसे निर्दोष हो जाय। १२

शरीरवचसोः शुद्धौ सप्तांगे चापि कर्मणि ।
आजीवसमुदाचारं शौचात्संस्कर्तुमर्हसि ॥१३॥

शरीर और वचनकी शुद्धिमें तथा (उनके) सात कर्मोंकी शुद्धि में अपनी आजीविकाके सम्पर्कको शुद्ध करो। १३

१३—पा० 'शौचात्' अनिश्चित है। शरीरके तीन अच्छे कर्म —जीव-हिंसा चोरी और व्यभिचार नहीं करना। वचनके चार अच्छे कर्म—झूठ कठोर फजूल नहीं बोलना और चुगली नहीं करना।

दोषाणां कुहनादीनां पञ्चानामनिषेवणात् ।
त्यागाच्च ज्योतिषादीनां चतुर्णां वृत्तिघातिनां ॥१४॥

कपट आदि पाँच दोषोंको छोड़कर तथा सद्वृत्तिकी हत्या करनेवाले ज्योतिष आदि चार (व्यवसायों) का परित्याग कर, १४

प्राणिधान्यधनादीनां वर्ज्यानामप्रतिग्रहात् ।
भैक्षाङ्गानां निसृष्टानां नियतानां प्रतिग्रहात् ॥१५॥

जीवन, अन्न, धन आदि वर्जित वस्तुओंको ग्रहण नहीं करके तथा भिक्षा-वृत्तिके निश्चित नियमोंका पालन करके (अपनी आजीविकाको शुद्ध करो) । १५

परितुष्टः शुचिर्मञ्जुश्चौक्षया जीवसंपदा ।
कुर्या दुःखप्रतीकारं यावदेव विमुक्तये ।१६॥

संतुष्ट पवित्र मधुर-भाषी और शुद्ध आजीविकावाला होकर तब तक दुःखका प्रतीकार करते रहो जब तक (दुःखसे) मुक्ति न हो जाय । १६

कर्मणो हि यथादृष्टात्कायवाक्प्रभवादपि ।
आजीवः पृथगेवोक्तो दुःशोधत्वादयं मया ॥१७॥

१३-१५—स्पष्टता के लिए देखिये बु० च० २६।२७-२६ ।

१५—यदि 'भैक्षान्नानां' पाठ होता तो अर्थ यों होता 'नियमानुसार प्राप्त भिक्षाका अन्न ग्रहण करके' ।

१६—दूसरे पादका अर्थ अस्पष्ट है । उत्तरार्धका यह अर्थ भी हो सकता है—'(भूख, प्यास, जाड़ा आदि) दुःख का (अन्न, जल, वस्त्र आदि से) उतना ही प्रतीकार करते रहो जितना कि मुक्तिकेलिए आवश्यक है' । दुःख-प्रतीकारके लिए देखिये बु० च० ११।३६-४० ।

शरीर और वचनका जो कर्म देखा जाता है उससे आजीविकाको अलग ही कहा गया है, इसलिए कि आजीविकाको शुद्ध करना दुष्कर है। १७

गृहस्थेन हि दुःशोधा दृष्टिर्विविधदृष्टिना।
आजीवो भिक्षुणा चैव परेष्वायत्तवृत्तिना॥१८॥

विविध दृष्टियोंवाले गृहस्थकेलिए दृष्टिको शुद्ध करना दुष्कर है और भिक्षुकी वृत्ति दूसरोंके अधीन होनेके कारण उसकेलिए आजीविका शुद्ध करना कठिन है। १८

एतावच्छीलमित्युक्तमाचारोऽयं समासतः।
अस्य नाशेन नैव स्यात्प्रव्रज्या न गृहस्थता॥१६॥

यही इतना शील है। संक्षेपमें यही आचार है, जिसका नाश होनेपर न प्रव्रज्या रहेगी और न गृहस्थता। १६

तस्माच्चारित्रसंपन्नो ब्रह्मचर्यमिदं चर।
अणुमात्रेष्ववद्येषु भयदर्शी दृढव्रतः॥२०॥

इसलिए सदाचारसे युक्त होकर इस ब्रह्मचर्य (श्रेष्ठ जीवन) का आचरण करो; अत्यन्त सूक्ष्म दोषों में भी भय देखते हुए अपना व्रत दृढ़ रखो। २०

शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः।
स्थानाद्यानीव कार्याणि प्रतिष्ठाय वसुन्धरां॥२१॥

१७—शरीर और वचनका कर्म ही आजीविका है, अष्टांगिक मार्गमें शरीर और वचनके कर्मके अतिरिक्त आजीविकाको पृथक् स्थान मिला है, इसलिए कि आजीविकाकी शुद्धि दुष्कर है।

१८ - पा० "परेष्वा०"।

शीलका सहारा लेकर सभी श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न होते हैं, जैसे पृथ्वीके आश्रयसे खड़ा होना आदि कार्य होते हैं। २१

मोक्षस्योपनिषत्सौम्य वैराग्यमिति गृह्यतां।
वैराग्यस्यापि संवेदः संविदो ज्ञानदर्शनं ॥२२॥

मोक्षका उपनिषद् (आधार, समीप ले जाने वाला), हे सौम्य, वैराग्य है, ऐसा समझो। वैराग्यका भी उपनिषद् सम्यक् ज्ञान है और सम्यक् ज्ञानका उपनिषद् ज्ञानका दर्शन है। २२

ज्ञानस्योपनिषच्चैव समाधिरुपधार्यतां।
समाधेरप्युपनिषत्सुखं शारीरमानसं ॥२३॥

ज्ञानका उपनिषद् समाधि समझो, समाधिका भी उपनिषद् शारीरिक और मानसिक सुख समझो। २३

प्रश्रब्धिः कायमनसः सुखस्योपनिषत्परा।
प्रश्रब्धेरप्युपनिषत्प्रीतिरप्यवगम्यतां ॥२४॥

शारीरिक और मानसिक सुखका उपनिषद् है परम शान्ति और शान्तिका भी उपनिषद् प्रीति जानो। २४

तथा प्रीतेरुपनिषत्प्रामोद्यं परमं मतं।
प्रामोद्यस्याप्यहृल्लेखः कुकृतेष्वकृतेषु वा ॥२५॥

प्रीतिका उपनिषद् परम आनन्द माना गया है और आनन्दका भी उपनिषद् है कुकार्यों और अकार्योंसे मनमें पीड़ाका न होना। २५

अहृल्लेखस्य मनसः शीलं तूपनिषच्छुचि।
अतः शीलं नयत्यग्र्यमिति शीलं विशोधय ॥२६॥

मानसिक पीड़ाका अभावका उपनिषद् है पवित्र शील। इस

२२—'संवेद' के स्थान में 'निर्वेद' पढ़ना भी उपयुक्त होगा।

प्रकार शील ही प्रधान है और (श्रेष्ठताकी ओर) ले जानेवाला (नेता है), इसलिए शीलको शुद्ध करो। २६

शीलनाच्छीलमित्युक्तं शीलनं सेवनादपि।
सेवनं तन्निदेशाच्च निदेशश्च तदाश्रयात् ॥२७॥

शीलनसे शील कहा गया है, शीलन सेवन (अर्थात् बार बारके अभ्यास) से होता है, सेवन किसी चीजकेलिए उत्कट इच्छा होनेसे होता है और इच्छा उसके ही आश्रयसे होती है। २७

शीलं हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।
मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च ॥२८॥

शील, हे सौम्य, शरण है, जंगलमें पथ-प्रदर्शकके समान है मित्र बन्धु रक्षक धन और बल है। २८

यतः शीलमतः सौम्य शीलं संस्कर्तुमर्हसि।
एतत्स्थानमथान्ये च मोक्षारम्भेषु योगिनां ॥२९॥

क्योंकि शील ऐसा है, इसलिए शीलको तुम्हें शुद्ध करना चाहिये, मोक्षकेलिए आरम्भ करनेवाले योगियोंकेलिए यह अनन्य (एकमात्र) सहारा है।२९

ततः स्मृतिमधिष्ठाय चपलानि स्वभावतः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवारयितुमर्हसि ॥३०॥

तब स्मृतिको स्थिर करके तुम्हें स्वभावसे चञ्चल इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना चाहिये।३०

भेतव्यं न तथा शत्रोर्नाग्नेर्नाहेर्न चाशनेः।
इन्द्रियेभ्यो यथा स्वेभ्यस्तैरजस्रं हि हन्यते ॥३१॥

---

२९ — मैंने 'मनन्यं' पढ़कर और जौन्स्टनने 'मथान्येषु' पढ़कर अर्थ किया है।

शत्रु अग्नि सर्प और वज्रसे उतना नहीं डरना चाहिये जितना कि अपनेही इन्द्रियोंसे, जो निरन्तर चोट करते रहते हैं।३१

द्विषद्भिः शत्रुभिः कश्चित्कदाचित्पीड्यते न वा।
इन्द्रियैर्बाध्यते सर्वः सर्वत्र च सदैव च ॥३२॥

द्वेष करनेवाले शत्रुओंसे कोई कभी पीड़ित होता है या नहीं भी, किंतु इन्द्रियोंसे सभी सर्वत्र और सदाही पीड़ित होते रहते हैं।३२

न च प्रयाति नरकं शत्रुप्रभृतिभिर्हतः।
कृष्यते तत्र निघ्नस्तु चपलैरिन्द्रियैर्हतः ॥३३॥

शत्रु आदिसे मारा जाकर मनुष्य नरक नहीं जाता है, किंतु चपल इन्द्रियोंसे मारा जाकर बेचारा वहाँ घसीट कर ले जाया जाता है।३३

हन्यमानस्य तैर्दुःखं हार्दं भवति वा न वा।
इन्द्रियैर्बाध्यमानस्य हार्दं शारीरमेव च ॥३४॥

उन (शत्रुओं) के द्वारा मारे जाते हुए को हार्दिक (मानसिक, आध्यात्मिक) दुःख होता है या नहीं भी, किंतु इन्द्रियोंसे पीड़ित होनेवालेको हार्दिक और शारीरिक दोनों ही दुःख होते हैं।३४

संकल्पविषदिग्धा हि पञ्चेन्द्रियमयाः शराः।
चिन्तापुङ्खा रतिफला विषयाकाशगोचराः ॥३५॥

सङ्कल्परूपी विषसे लिप्त पञ्च इन्द्रिय रूपी तीर, चिन्ताएँ ही जिनके पुङ्ख हैं और रति (आनन्द, भोग) ही जिनका लक्ष्य है, विषयरूपी आकाशमें चलते हैं।३५

मनुष्यहरिणान् घ्नन्ति कामव्याधेरिता हृदि।
विहन्यन्ते यदि न ते ततः पतन्ति तैः क्षताः ॥३६॥

३५—पुङ्ख = तीर का हिस्सा, पङ्ख।

कामरूपी व्याधसे सञ्चालित होकर वे मनुष्यरूपी हरिणोंके हृदयमें चोट करते हैं; यदि वे रोके न जायँ तो उनसे घायल होकर मनुष्य गिर पड़ते हैं।३६

नियमाजिरसंस्थेन धैर्यकार्मुकधारिणा।
निपतन्तो निवार्यास्ते महता स्मृतिवर्मणा॥३७॥

नियम रूपी आङ्गनमें खड़ा होकर, धैर्यरूपी धनुष धारण कर, महान् स्मृतिरूपी कवच पहनकर, उन गिरते हुए तीरोंको रोकना चाहिए।३७

इन्द्रियाणामुपशमादरीणां निग्रहादिव।
सुखं स्वपिति वास्ते वा यत्र तत्र गतोद्धवः॥३८॥

इन्द्रियों के शान्त होने पर, जैसे शत्रुओंका निग्रह होने पर, मनुष्य जहाँ तहाँ सुखपूर्वक सोता है या निश्चिन्त होकर बैठता है।३८

तेषां हि सततं लोके विषयानभिकांक्षतां।
संविन्नैवास्ति कार्पण्याच्छुनामाशावतामिव॥३९॥

तृष्णावान् कुत्तोंकी तरह संसारमें सदा विषयोंकी आकाङ्क्षा करनेवालोंका ज्ञान नष्ट हो जाता है। ३९

विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति।
अजस्रं पूर्यमाणोऽपि समुद्रः सलिलैरिव॥४०॥

विषयोंसे इन्द्रिय-समूहको तृप्ति नहीं होती है, जैसे जल-राशिसे निरन्तर पूर्ण होते रहने पर भी समुद्रको तृप्ति नहीं होती है। ४०

अवश्यं गोचरे स्वे स्वे वर्तितव्यमिहेन्द्रियैः
निमित्तं तत्र न ग्राह्यमनुव्यञ्जनमेव च॥४१॥

इन्द्रिय तो अपने अपने क्षेत्र (विषय) में रहेंगे ही; किन्तु उसमें

निमित्त (लिङ्ग, आकृति आदि) और अनुव्यञ्जनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। ४१

आलोक्य चक्षुषा रूपं धातुमात्रे व्यवस्थितः।
स्त्री वेति पुरुषो वेति न कल्पयितुमर्हसि ॥४२॥

नेत्रसे रूपको देखकर (उसके आधारभूत पृथ्वी आदि) धातुओंमें ही अपना ध्यान स्थिर करना चाहिए; स्त्री है या पुरुष ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए। ४२

सचेत्स्त्रीपुरुषग्राहः क्वचिद्विद्येत कश्चन।
शुभतः केशदन्तादीन्नानुप्रस्थातुमर्हसि ॥४३॥

स्त्री है या पुरुष, ऐसी कोई समझ यदि कहीं हो भी जाय, तो केश और दाँत आदिमें तुम्हें सौन्दर्य नहीं देखना चाहिए। ४३

नापनेयं ततः किंचित्प्रक्षेप्यं नापि किंचन।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं यादृशं च यथा च यत् ॥४४॥

उस (रूप) से न कुछ हटाना चाहिए और न उसमें कुछ जोड़ना ही चाहिए। रूपको ठीक ठीक देखना चाहिए कि वह कैसा कैसे और क्या है। ४४

एवं ते पश्यतस्तत्त्वं शश्वदिन्द्रियगोचरे।
भविष्यति पदस्थानं नाभिध्यादौर्मनस्ययोः ॥४५॥

जब तुम इन्द्रियोंके क्षेत्र (विषयों) में इस प्रकार तत्त्वको निरन्तर देखते रहोगे तो अभिध्या (लोभ) और दौर्मनस्य (संताप, अरुचि), (तुम्हारे चित्तमें) पाँव न जमा सकेंगे। ४५

अभिध्या प्रियरूपेण हन्ति कामात्मकं जगत्।
अरिर्मित्रमुखेनेव प्रियवाक्कलुषाशयः ॥४६॥

अभिध्या आकर्षक रूप द्वारा कामासक्त जगत्की हत्या करती

है, जैसे पाप आशयवाला शत्रु मित्रकी तरह मुखसे प्रिय वचन कहता हुआ (बुराई करता है) । ४६

दौर्मनस्याभिधानस्तु प्रतिघो विषयाश्रितः ।
मोहाद्येनानुवृत्तेन परत्रेह च हन्यते ॥४७॥

विषयाश्रित प्रतिघ (अरुचि, विद्वेष) का ही नाम दौर्मनस्य है ; मोहसे मनुष्य इसके वशीभूत होकर इहलोक और परलोकमें नष्ट होता है । ४७

अनुरोधविरोधाभ्यां शीतोष्णाभ्यामिवार्दितः ।
शर्म नाप्नोति न श्रेयश्चलेन्द्रियमतो जगत् ॥४८॥

सर्दी और गर्मीकी तरह अनुकूलता और प्रतिकूलतासे पीड़ित होकर जीव-लोक न शान्ति प्राप्त करता है और न श्रेय; अतः उसके इन्द्रिय चञ्चल हैं । ४८

नेन्द्रियं विषये तावत्प्रवृत्तमपि सज्जते ।
यावन्न मनसस्तत्र परिकल्पः प्रवर्तते ॥४६॥

विषय (के सम्पर्क) में रहकर भी इन्द्रिय तब तक उसमें आसक्त नहीं होता है, जब तक तत्सम्बन्धी मानसिक सङ्कल्प (कल्पना, विचार) नहीं होता है । ४६

इन्धने सति वायौ च यथा ज्वलति पावकः ।
विषयात्परिकल्पाच्च क्लेशाग्निर्जायते तथा ॥५०॥

जैसे जलावन और हवा दोनोंके रहने पर अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसेही विषय और कल्पना दोनोंके होनेसे क्लेशाग्निकी उत्पत्ति होती है । ५०

अभूतपरिकल्पेन विषयस्य हि बध्यते ।
तमेव विषयं पश्यन् भूततः परिमुच्यते ॥५१॥

विषयकी अयथार्थ कल्पनासे मनुष्य बाँधा जाता है और उसी विषयको ठीक ठीक देखता हुआ मुक्त होता है। ५१

दृष्ट्वैकं रूपमन्यो हि रज्यतेऽन्यः प्रदुष्यति।
कश्चिद्भवति मध्यस्थस्तत्रैवान्यो घृणायते ॥५२॥

एकही रूपको देखकर कोई अनुराग करता है, कोई दोष देखता है, कोई मध्यस्थ (उदासीन) रहता है और कोई घृणा करता है।५२

अतो न विषयो हेतुर्बन्धाय न विमुक्तये।
परिकल्पविशेषेण संगो भवति वा न वा ॥५३॥

अतः बन्धन या मुक्ति का हेतु विषय नहीं है, कल्पना-विशेष से (विषय में) आसक्ति होती है या नहीं होती है। ५३

कार्यः परमयत्नेन तस्मादिन्द्रियसंवरः।
इन्द्रियाणि ह्यगुप्तानि दुःखाय च भवाय च ॥५४॥

इसलिए अत्यन्त यत्नपूर्वक इन्द्रियों की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि इन्द्रियोंकी रक्षा नहीं करनेसे दुःख और पुनर्जन्म होता है। ५४

५३—पा० 'योगो भवति' (जौन्स्टन)।

५५—यह प्रक्षिप्त पद्य यों है:—

कामभोगभोगवद्भिरात्मदृष्टिदृष्टिभिः
प्रमादनैकमूर्द्धभिः प्रहर्षलोलजिह्वकैः।
इन्द्रियोरगैर्मनोबिलश्रयैः स्पृहाविषैः
शमागदादृते न दष्टमस्ति यच्चिकित्सेत् ॥

काम-भोग जिनके फन हैं, आत्म-दृष्टि (आत्म-भाव) जिनकी दृष्टियाँ हैं, प्रमाद जिनके अनेक मस्तक हैं, प्रहर्ष जिनकी चञ्चल जिह्वाएँ हैं, मन जिनके रहने के बिल है, इच्छाएँ जिनका विष है—

तस्मादेषामकुशलकराणामरीणां
चक्षुर्घ्राणश्रवणरसनस्पर्शनानां।
सर्वावस्थं भव विनियमादप्रमत्तो
मास्मिन्नर्थे क्षणमपि कृथास्त्वं प्रमादं ॥५६॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये शीलेन्द्रियजयो नाम त्रयोदशः सर्गः।

इसलिए सभी अवस्थाओं में, दृष्टि घ्राण श्रवण आस्वाद और स्पर्श—इन बुराई करनेवाले शत्रुओंका नियन्त्रण करनेमें सावधान रहो। इस विषयमें तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो। ५६

सौन्दरनन्द महाकाव्य में शील और इन्द्रिय-संयम
नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त।

ऐसे इन्द्रियरूपी सर्पों ने जिसे डँस लिया है उसकी चिकित्सा शान्तिरूपी विष-नाशक औषधिको छोड़कर दूसरी किसी चीजसे नहीं हो सकती।

५६—पा० 'सर्वावस्थासु भव नियमाद्'।

चतुर्दश सर्ग

आदि-प्रस्थान *

अथ स्मृतिकवाटेन पिधायेन्द्रियसंवरं ।
भोजने भव मात्राज्ञो ध्यानायानामयाय च ॥१॥

स्मृतिरूपी किवाड़से इन्द्रियरूपी बाँधको बन्द करके ध्यान और आरोग्यकेलिए भोजनकी मात्रा जानो ।१

प्राणापानौ निगृह्णाति ग्लानिनिद्रे प्रयच्छति ।
कृतो ह्यत्यर्थमाहारो विहन्ति च पराक्रमं ॥२॥

यदि अधिक भोजन किया जाय तो वह प्राण-वायु और अपान-वायुमें रुकावट डालता है, आलस्य और नींद लाता है, तथा पराक्रमकी हत्या करता है । २

यथा चात्यर्थमाहारः कृतोऽनर्थाय कल्पते ।
उपयुक्तस्तथात्यल्पो न सामर्थ्याय कल्पते ॥३॥

जिस प्रकार अधिक भोजन करनेसे अनर्थ होता है उसी प्रकार अत्यल्प भोजन करनेसे शक्ति नहीं होती है । ३

आचयं द्युतिमुत्साहं प्रयोगं बलमेव च ।
भोजनं कृतमत्यल्पं शरीरस्यापकर्षति ॥४॥

अत्यल्प भोजन करनेसे शरीरकी पुष्टि कान्ति उत्साह प्रयोग और बलका ह्रास होता है । ४

---

* प्रस्थान = विजय-यात्रा, इन्द्रियोंको जीतनेकेलिए प्रस्थान ।

यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला ।
समा तिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः ॥५॥

जैसे अधिक भारसे तुला (पलड़ा) झुकती है, हलके भारसे उठती है और उचित भारसे समान रहती है उसी प्रकार (अधिक अल्प एवं युक्त) आहारसे यह शरीर (क्रमशः भारी क्षीण और ठीक होता है)। ५

तस्मादभ्यवहर्तव्यं स्वशक्तिमनुपश्यता ।
नातिमात्रं न चात्यल्पं मेयं मानवशादपि ॥६॥

इसलिए अपनी शक्तिको देखते हुए भोजन करना चाहिए; मानके वशीभूत होकर भी न बहुत अधिक और न बहुत कम ही खाना (मापना, काढ़ना) चाहिए। ६

अत्याक्रान्तो हि कायाग्निर्गुरुणान्नेन शाम्यति ।
अवच्छन्न इवाल्पोऽग्निः सहसा महतेन्धसा ॥७॥

शरीरकी अग्नि अन्नके भारसे दबकर ऐसे शान्त हो जाती है जैसे थोड़ीसी आग हठात् ही जलावनके बोझसे ढककर बुझ जाती है। ७

अत्यन्तमपि संहारो नाहारस्य प्रशस्यते ।
अनाहारो हि निर्वाति निरिन्धन इवानलः ॥८॥

भोजन बिलकुल छोड़ देना भी प्रशंसनीय नहीं है; क्योंकि भोजन नहीं करनेवाला मनुष्य इन्धन-रहित अग्निके समान शान्त हो जाता है। ८

यस्मान्नास्ति विनाहारात्सर्वप्राणभृतां स्थितिः ।
तस्माद्दुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते ॥९॥

क्योंकि भोजनके विना कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता,

इसलिए भोजनमें दोष नहीं है, किंतु भोजन-विशेष (भोजनका चुनाव) निषिद्ध है। ९

न ह्येकविषयेऽन्यत्र सज्यन्ते प्राणिनस्तथा।
अविज्ञाते यथाहारे बोद्धव्यं तत्र कारणं ॥१०॥

प्राणी दूसरे किसी एक विषयमें उतना आसक्त नहीं होते हैं, जितना कि अज्ञात (विशिष्ट?) भोजनमें। इसका कारण जानना चाहिए। १०

चिकित्सार्थं यथा धत्ते व्रणस्यालेपनं व्रणी।
क्षुद्विघातार्थमाहारस्तद्वत्सेव्यो मुमुक्षुणा ॥११॥

घायल आदमी जैसे घावकी चिकित्साकेलिए मलहम लगाता है, वैसे ही मुक्ति चाहनेवालेको भूख मिटानेकेलिए भोजनका सेवन करना चाहिए। ११

भारस्योद्वहनार्थं च रथाक्षोऽभ्यज्यते यथा।
भोजनं प्राणयात्रार्थं तद्वद्विद्वान्निषेवते ॥१२॥

जैसे भार ढोनेकेलिए रथके धुरेमें चर्बी लगाई जाती है वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य जीवन-यात्राकेलिए भोजनका सेवन करता है। १२

समतिक्रमणार्थं च कान्तारस्य यथाध्वगौ।
पुत्रमांसानि खादेतां दम्पती भृशदुःखितौ ॥१३॥

जिस प्रकार यात्री दम्पती मरुभूमिको पार करनेके लिए अत्यन्त दुःखी होकर अपने पुत्रका मांस खायें। १३

एवमभ्यवहर्तव्यं भोजनं प्रतिसंख्यया।
न भूषार्थं न वपुषे न मदाय न दृप्तये ॥१४॥

उसी प्रकार समझ-बूझकर भोजन करना चाहिए; सौन्दर्य रूप मद या औद्धत्यके लिए नहीं खाना चाहिए। १४

धारणार्थं शरीरस्य भोजनं हि विधीयते ।
उपस्तम्भः पिपतिषोर्दुर्बलस्येव वेश्मनः ॥१५॥

शरीर धारण करनेकेलिए ही भोजन विहित है, जैसे गिरते हुए दुर्बल घरकी रक्षाकेलिए उसमें उपस्तम्भ (खम्भा) लगाया जाता है। १५

प्लवं यत्नाद्यथा कश्चिद्बध्नीयाद्धारयेदपि ।
न तत्स्नेहेन यावत्तु महौघस्योत्तितीर्षया ॥१६॥

जैसे कोई मनुष्य नावको, उसके स्नेहसे नहीं किंतु बाढ़ पार करनेकी इच्छासे, यत्नपूर्वक बनाये और ढोये भी, १६

तथोपकरणैः कायं धारयन्ति परीक्षकाः ।
न तत्स्नेहेन यावत्तु दुःखौघस्य तितीर्षया ॥१७॥

वैसे ही दार्शनिक (योगाभ्यासी) लोग शरीर को, उसके स्नेहसे नहीं किंतु दुःखरूप बाढ़को पार करनेकी इच्छासे, (भोजन आदि आवश्यक) उपकरणों द्वारा धारण करते हैं। १७

शोचता पीड्यमानेन दीयते शत्रवे यथा ।
न भक्त्या नापि तर्षेण केवलं प्राणगुप्तये ॥१८॥

जैसे (शत्रुद्वारा) पीड़ित होकर कोई मनुष्य (द्रव्य आदि) जो कुछ शत्रुको देता है वह भक्तिसे नहीं, इच्छासे (या किसी वस्तुकी तृष्णासे) नहीं, किंतु केवल प्राण-रक्षाकेलिए ही शोकपूर्वक देता है, १८

योगाचारस्तथाहारं शरीराय प्रयच्छति ।
केवलं क्षुद्विघातार्थं न रागेण न भक्तये ॥१९॥

वैसे ही योगाभ्यासी मनुष्य शरीरको जो आहार देता है वह

अनुराग या भक्तिसे नहीं, किंतु केवल भूख मिटानेके लिए ही देता है। १९

मनोधारणया चैव परिणाम्यात्मवानहः।
विधूय निद्रां योगेन निशामप्यतिनामयेः ॥२०॥

संयतात्मा होकर दिवसको मनोनिग्रहमें बिताओ और निद्राको दूर करके रात्रिको भी योगाभ्यासमें बिताओ। २०

हृदि यत्संज्ञिनश्चैव निद्रा प्रादुर्भवेत्तव।
गुणवत्संज्ञितां संज्ञां तदा मनसि मा कृथाः ॥२१॥

संज्ञा (चेतना, होश) के रहते यदि तुम्हारे हृदयमें निद्राका प्रादुर्भाव हो तो उस संज्ञाको अपने मनमें उत्तम संज्ञा मत समझो। २१

धातुरारम्भधृत्योश्च स्थामविक्रमयोरपि।
नित्यं मनसि कार्यस्ते बाध्यमानेन निद्रया ॥२२॥

नींदसे पीड़ित होनेपर आरम्भ (उद्योग) और धैर्य तथा शक्ति और पराक्रमके तत्त्वोंका अपने मनमें चिन्तन करो। २२

आम्नातव्याश्च विशदं ते धर्मा ये परिश्रुताः।
परेभ्यश्चोपदेष्टव्याः संचिन्त्याः स्वयमेव च ॥२३॥

जिन धर्मोंको तुमने सुना है उनका साफ साफ पाठ करो, दूसरोंको उपदेश दो और स्वयं भी चिन्तन करो। २३

प्रक्लेद्यमद्भिर्वदनं विलोक्याः सर्वतो दिशः।
चार्या दृष्टिश्च तारासु जिजागरिषुणा सदा ॥२४॥

सदा जागरणकी इच्छा करनेवालेको जलसे मुख भिगोना चाहिए, चारों ओर दृष्टि-पात करना चाहिए और ताराओंकी ओर देखना चाहिए। २४

अन्तर्गतैरचपलैर्वशस्थायिभिरिन्द्रियैः ।

अविक्षिप्तेन मनसा चंक्रम्यस्वास्व वा निशि ॥२५॥

इन्द्रियोंको भीतरकी ओर (अन्तर्मुख), स्थिर और वशमें करके शान्त चित्तसे चंक्रमण (चहल कदमी) करो या बैठे रहो। २५

भये प्रीतौ च शोके च निद्रया नाभिभूयते ।

तस्मान्निद्राभियोगेषु सेवितव्यमिदं त्रयं ॥२६॥

भय प्रीति और शोकमें मनुष्य निद्रासे पीड़ित नहीं होता है, इसलिए निद्राका आक्रमण होते समय इन तीनोंका सेवन करना चाहिए। २६

भयमागमनान्मृत्योः प्रीतिं धर्मपरिग्रहात् ।

जन्मदुःखादपर्यन्ताच्छोकमागन्तुमर्हसि ॥२७॥

मृत्यु आ रही है इस प्रकार (मृत्युसे) भय, धर्म ग्रहण कर रहा हूँ इस प्रकार (धर्मसे) प्रीति और जन्मका दुःख अनन्त है इस प्रकार (जन्मकेलिए) शोक करना चाहिए। २७

एवमादिः क्रमः सौम्य कार्यो जागरणं प्रति ।

वन्ध्यं हि शयनादायुः कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२८॥

जागरणकेलिए, हे सौम्य, इस और ऐसे ही क्रमका सेवन करना चाहिए; क्योंकि कौन ज्ञानवान् मनुष्य सोकर, अपनी आयुको निष्फल करेगा ? २८

दोषव्यालानतिक्रम्य व्यालान् गृहगतानिव ।

क्षमं प्राज्ञस्य न स्वप्तुं निस्तितीर्षोर्महद्भयं ॥२९॥

जैसे घरमें रहनेवाले साँपोंकी अवहेलना करके समझदार आदमीकेलिए सोना उचित नहीं है, वैसे ही दोषरूपी सर्पोंकी

उपेक्षा करके महाभयको पार करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानीकेलिए सोना उचित नहीं है। २६

प्रदीप्ते जीवलोके हि मृत्युव्याधिजराग्निभिः।
कः शयीत निरुद्वेगः प्रदीप्त इव वेश्मनि ॥३०॥

जैसे जलते हुए घरमें कोई भी आदमी निश्चिन्त होकर नहीं सो सकता, वैसे ही मृत्यु व्याधि और जरारूपी अग्नियोंसे प्रज्वलित जीव-लोकमें कौन निर्भय होकर सोयेगा ? ३०

तस्मात्तम इति ज्ञात्वा निद्रां नावेष्टुमर्हसि।
अप्रशान्तेषु दोषेषु सशस्त्रेष्विव शत्रुषु ॥३१॥

इसलिए जब तक शस्त्र-युक्त शत्रुओंके समान तुम्हारे दोष शान्त नहीं हो जाते तब तक निद्राको मानसिक अन्धकार समझकर अपनेको उसके वशीभूत न होने दो। ३१

पूर्वं यामं त्रियामाया: प्रयोगेणातिनाम्य तु।
सेव्या शय्या शरीरस्य विश्रामार्थं स्वतन्त्रिणा ॥३२॥

तीन प्रहर वाली रात्रिके प्रथम प्रहरको योगाभ्यासमें बिताकर, (दूसरे प्रहरमें) शरीरके विश्रामकेलिए सावधान होकर शय्याका सेवन करो। ३२

दक्षिणेन तु पार्श्वेन स्थितयालोकसंज्ञया।
प्रबोधं हृदये कृत्वा शयीथाः शान्तमानसः ॥३३॥

दाईं करवटसे, आलोक (प्रकाश) की भावना करते हुए, हृदयमें ज्ञान (होश) रखकर, शान्तिचित्त होकर सोओ। ३३

यामे तृतीये चोत्थाय चरन्नासीन एव वा।
भूयो योगं मनःशुद्धौ कुर्वीथा नियतेन्द्रियः ॥३४॥

३२—पा० 'मतन्द्रिणा'।

और तीसरे पहरमें उठकर, टहलते हुए या बैठे हुए ही, संयतेन्द्रिय होकर मानसिक शुद्धिमें पुनः योगारूढ़ हो जाओ। ३४

अथासनगतस्थानप्रेक्षितव्याहृतादिषु।
सम्प्रजानन् क्रियाः सर्वाः स्मृतिमाधातुमर्हसि ॥३५॥

बैठते चलते खड़ा होते देखते बोलते और ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय, अपने सभी कार्योंको अच्छी तरह जानते हुए (अनुभव करते हुए), अपनी स्मृति (जागरूकता) को स्थिर रखो। ३५

द्वाराध्यक्ष इव द्वारि यस्य प्रणिहिता स्मृतिः।
धर्षयन्ति न तं दोषाः पुरं गुप्तमिवारयः ॥३६॥

द्वारपर नियुक्त द्वाराध्यक्षके समान जिसकी स्मृति स्थिर है उसके ऊपर दोषोंका आक्रमण नहीं होता है जैसे कि रक्षित नगरपर शत्रुओंका आक्रमण नहीं होता है। ३६

न तस्योत्पद्यते क्लेशो यस्य कायगता स्मृतिः।
चित्तं सर्वास्ववस्थासु बालं धात्रीव रक्षति ॥३७॥

उस मनुष्यको कोई क्लेश (दोष) नहीं हो सकता जिसकी कायगत (शरीरमें लगी हुई) स्मृति सभी अवस्थाओंमें उसके चित्तकी, जैसे धाई बालककी, रक्षा करता है। ३७

शरव्यः स तु दोषाणां यो हीनः स्मृतिवर्मणा।
रणस्थः प्रतिशत्रूणां विहीन इव वर्मणा ॥३८॥

दोषोंका लक्ष्य वही आदमी होता है जो स्मृतिरूपी कवचसे हीन है, जैसे प्रतिपक्षी शत्रुओंका लक्ष्य वही योद्धा होता है जो कवचसे रहित है। ३८

अनाथं तन्मनो ज्ञेयं यत्स्मृतिर्नाभिरक्षति।
निर्णेता दृष्टिरहितो विषमेषु चरन्निव ॥३९॥

स्मृतिद्वारा अरक्षित चित्तको वैसे ही अनाथ समझना चाहिए, जैसे पथ-प्रदर्शकके विना विषम स्थलोंपर चलता हुआ दृष्टि-रहित मनुष्य असहाय होता है। ३९

अनर्थेषु प्रसक्ताश्च स्वार्थेभ्यश्च पराङ्मुखाः।
यद्भये सति नोद्विग्नाः स्मृतिनाशोऽत्र कारणं ॥४०॥

लोग अनर्थोंमें आसक्त होते हैं, स्वार्थों (अपने उत्तम लक्ष्य) से विमुख रहते हैं और भयके रहते उद्विग्न (भयभीत) नहीं होते हैं, इसका कारण है स्मृति-विनाश। ४०

स्वभूमिषु गुणाः सर्वे ये च शीलादयः स्थिताः।
विकीर्णा इव गा गोपः स्मृतिस्ताननुगच्छति ॥४१॥

स्मृति अपने अपने क्षेत्रमें रहनेवाले शील आदि सभी सद्-गुणोंका अनुसरण करती है, जैसे कि गोप बिखरी हुई गौओंका पीछा करता है। ४१

प्रनष्टममृतं तस्य यस्य विप्रसृता स्मृतिः।
हस्तस्थममृतं तस्य यस्य कायगता स्मृतिः ॥४२॥

जिसकी स्मृति बहकी हुई है उसका अमृत (श्रेय) नष्ट हो गया। जिसकी स्मृति उसके शरीर में लगी हुई है उसके हाथ में अमृत है। ४२

आर्यो न्यायः कुतस्तस्य स्मृतिर्यस्य न विद्यते।
यस्यार्यो नास्ति च न्यायः प्रनष्टस्तस्य सत्पथः ॥४३॥

जिसको स्मृति नहीं है उसको आर्य न्याय (सत्य) कहाँ से प्राप्त होगा? और जिसको आर्य न्याय (सत्य) नहीं है उसका सन्मार्ग नष्ट हो गया। ४३

प्रनष्टो यस्य सन्मार्गो नष्टं तस्यामृतं पदं ।
प्रनष्टममृतं यस्य स दुःखान्न विमुच्यते ॥४४॥

जिसका सन्मार्ग नष्ट हो गया उसका अमृत पद नष्ट हो गया। जिसका अमृत पद नष्ट हो गया वह दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता।४४

तस्माच्चरन् चरोऽस्मीति स्थितोऽस्मीति च धिष्ठितः ।
एवमादिषु कालेषु स्मृतिमाधातुमर्हसि ॥४५॥

इसलिए चलता हुआ 'चल रहा हूँ' खड़ा हुआ 'खड़ा हूँ' ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति बनाये रहो। ४५

योगानुलोमं विजनं विशब्दं शय्यासनं सौम्य तथा भजस्व ।
कायस्य कृत्वा हि विवेकमादौ सुखोऽधिगन्तुं मनसो विवेकः॥४६

हे सौम्य, योगके अनुकूल निर्जन और निःशब्द शय्या और आसनका सेवन करो। क्योंकि पहले शरीरको एकान्तमें कर लेने पर मानसिक एकान्त (एकाग्रता) आसानीसे प्राप्त हो सकता है।४६

अलब्धचेतःप्रशमः सरागो यो न प्रचारं भजते विविक्तं।
स क्षण्यते ह्यप्रतिलब्धमार्गश्चरन्निवोर्व्यां बहुकण्टकायां ॥४७॥

जो राग से युक्त है, जो एकान्त में नहीं रहता है, और जिसने मानसिक शान्ति नहीं पाई है वह मार्ग नहीं पा सकनेके कारण कण्टकाकीर्ण भूमिपर चलते हुएके समान कष्ट पाता है। ४७

अदृष्टतत्त्वेन परीक्षकेण स्थितेन चित्रे विषयप्रचारे।
चित्तं निषेद्धुं न सुखेन शक्यं कृष्टादको गौरिव सस्यमध्यात् ॥४८

जिस परीक्षक (जिज्ञासु, योगी दार्शनिक) ने तत्त्व का दर्शन नहीं किया है और जो विविध विषयोंके बीच पड़ा हुआ है वह अपने चित्तको आसानीसे नहीं रोक सकता है, जैसे खेती खाने (चरने)

वाले साँड़को फसलके बीचसे आसानीसे नहीं हटाया जा सकता। ४८

अनीर्यमाणस्तु यथानिलेन प्रशान्तिमागच्छति चित्रभानुः।
अल्पेन यत्नेन तथा विविक्तेष्वघट्टितं शान्तिमुपैति चेतः ॥४९॥

जिस प्रकार हवासे नहीं प्रेरित होती हुई अग्नि शान्त हो जाती है उसी प्रकार एकान्तमें प्रकम्पनरहित चित्त अल्प यत्नसे शान्तिको प्राप्त होता है। ४९

क्वचिद्भुक्त्वा यत्तद्वसनमपि यत्तत्परिहितो
वसन्नात्मारामः क्वचन विजने योऽभिरमते।
कृतार्थः स ज्ञेयः शमसुखरसज्ञः कृतमतिः
परेषां संसर्गं परिहरति यः कण्टकमिव ॥५०॥

जहाँ कहीं भी जो कुछ खाकर, जैसा-तैसा कपड़ा पहनकर, और जहाँ-कहीं भी रहकर जो आत्म-तुष्ट रहता है, निर्जन स्थान में रमण करता है और दूसरोंके संसर्गसे ऐसे बचता है जैसे काँटेसे, वह बुद्धिमान् शान्ति-सुखके रसको जानता है और उसे ही कृतार्थ समझना चाहिए। ५०

यदि द्वन्द्वारामे जगति विषयव्यग्रहृदये
विविक्ते निर्द्वन्द्वो विहरति कृती शान्तहृदयः।
ततः पीत्वा प्रज्ञारसममृतवत्तृप्तहृदयो
विविक्तः संसक्तं विषयकृपणं शोचति जगत् ॥५१

(सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वोंमें आनन्द पानेवाले एवं विषयोंसे व्यग्र हृदय वाले जगत्में यदि द्वन्द्व-रहित और शान्तहृदय होकर

५०—पा० 'परेभ्यः'।

कोई पवित्रात्मा एकान्तमें विहार करता है, तो वह अमृतके समान प्रज्ञा-रसका पान कर तृप्तहृदय और अनासक्त हो जाता है तथा आसक्तिमें पड़े हुए एवं विषयोंकेलिए आतुर जगत्‌केलिए शोक करता है। ५१

वसञ्शून्यागारे यदि सततमेकोऽभिरमते
यदि क्लेशोत्पादैः सह न रमते शत्रुभिरिव।
चरन्नात्मारामो यदि च पिबति प्रीतिसलिलं
ततो भुङ्क्ते श्रेष्ठं त्रिदशपतिराज्यादपि सुखं ॥५२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये आदिप्रस्थानो नाम चतुर्दशः सर्गः।

यदि वह सूने घरमें सदा अकेला ही रमण करता है यदि क्लेशों (दोषों) के कारणोंसे ऐसे दूर रहता है जैसे शत्रुओंसे और यदि आत्मतुष्ट रहता हुआ प्रीति-जलका पान करता है तो वह देवेन्द्रके राज्यसे भी उत्तम सुखका भोग करता है। ५२

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "आदि-प्रस्थान"
नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त।

पञ्चदश सर्ग

वितर्क-प्रहाण *

यत्र तत्र विविक्ते तु बद्ध्वा पर्यङ्कमुत्तमं ।
ऋजुं कायं समाधाय स्मृत्याभिमुखयान्वितः ॥१॥

जहाँ-कहीं एकान्तमें उत्तम आसन बाँधकर शरीरको सीधा कर, स्मृतिको सन्मुख रखकर । १

नासाग्रे वा ललाटे वा भ्रुवोरन्तर एव वा ।
कुर्वीथाश्चपलं चित्तमालम्बनपरायणं ॥२॥

अपने चञ्चल चित्तको नाककी नोकपर, या ललाटपर या दोनों भौंहोंके बीचमें, किसी भी एक चीजमें लगाओ । २

स चेत्कामवितर्कस्त्वां धर्षयेन्मानसो ज्वरः ।
क्षेप्तव्यो नाधिवास्यः स वस्त्रे रेणुरिवागतः ॥३॥

यदि काम-सम्बन्धी विचार—वह मानसिक ताप—तुम्हें तंग करे तो कपड़ेमें पड़ी धूलके समान उसे दूर फेंक दो, ठहरने मत दो । ३

यद्यपि प्रतिसंख्यानात्कामानुत्सृष्टवानसि ।
तमांसीव प्रकाशेन प्रतिपक्षेण ताञ्जहि ॥४॥

यद्यपि सोच-समझकर (ज्ञानपूर्वक) तुमने कामों (भोगों, विषयों) का परित्याग कर दिया है, तो भी प्रतिपक्ष-भावना (विपरीत पदार्थ) द्वारा उन्हें मार डालो, जैसे कि प्रकाश द्वारा अन्धकारका नाश किया जाता है । ४

---

* अकुशल विचारोंका विनाश, मानसिक शुद्धि ।

तिष्ठत्यनुशयस्तेषां छन्नोऽग्निरिव भस्मना ।
स ते भावनया सौम्य प्रशाम्योऽग्निरिवाम्बुना ॥५॥

राखसे ढकी हुई अग्निके समान उन (कामों) का अनुशय (संस्कार) रह जाता है, भावना द्वारा, हे सौम्य, उसे ऐसे नष्ट कर दो जैसे कि जल से अग्निको शान्त करते हैं । ५

ते हि तस्मात्प्रवर्तन्ते भूयो बीजादिवाङ्कुराः ।
तस्य नाशेन ते न स्युर्बीजनाशादिवाङ्कुराः ॥६॥

वे (काम) उस (अनुशय) से (समय पाकर) फिर ऐसे प्रकट हो जाते हैं, जैसे कि बीजसे अङ्कुर उग आते हैं । उसका नाश होनेपर वे फिर प्रकट न हो सकेंगे, जैसे कि बीजका नाश होनेपर फिर अङ्कुर न उग सकेंगे । ६

अर्जनादीनि कामेभ्यो दृष्ट्वा दुःखानि कामिनां ।
तस्मात्तान्मूलतश्छिन्धि मित्रसंज्ञानरीनिव ॥७॥

कामासक्त व्यक्तियोंको कामों (भोगों) की प्राप्ति आदि (= प्राप्ति, रक्षा, नाश) में जो दुःख होते हैं उन्हें देखो और मित्रकी तरह दिखाई पड़नेवाले (अपनेको मित्र घोषित करनेवाले) शत्रुओंके समान उन्हें जड़-मूल से काट डालो । ७

अनित्या मोषधर्माणो रिक्ता व्यसनहेतवः ।
बहुसाधारणाः कामा बर्ह्या ह्याशीविषा इव ॥८॥

काम (विषय, भोग) अनित्य, नाशवान्, खाली (असार), विपत्तियोंके कारण-स्वरूप और बहुजन-भोग्य हैं, अतः विषधर सर्पोंके समान वे मार डाले जाने योग्य हैं । ८

ये मृग्यमाणा दुःखाय रक्ष्यमाणा न शान्तये ।
भ्रष्टाः शोकाय महते प्राप्ताश्च न वितृप्तये ॥९॥

उनकी खोज करनेमें दुःख है, उनकी रक्षा करनेमें शान्ति नहीं है, उनके नष्ट होनेपर महान् शोक होता है, और उनके प्राप्त होनेपर तृप्ति नहीं होती है। ६

तृप्तिं वित्तप्रकर्षेण स्वर्गावाप्त्या कृतार्थतां।
कामेभ्यश्च सुखोत्पत्तिं यः पश्यति स नश्यति ॥१०॥

धनकी अधिकता से तृप्ति होती है, स्वर्गकी प्राप्तिसे कृतार्थता होती है और कामों (भोगों) से सुखकी उत्पत्ति होती है, ऐसा जो देखता है वह नष्ट होता है। १०

चलानपरिनिष्पन्नानसारानानवस्थितान्।
परिकल्पसुखान् कामान्न तान्स्मर्तुमिहार्हसि ॥११॥

काम चञ्चल अवास्तविक असार और अस्थिर हैं, उनसे होनेवाला सुख काल्पनिक है, अतः तुम्हें उनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए। ११

व्यापादो वा विहिंसा वा क्षोभयेद्यदि ते मनः।
प्रसाद्यं तद्विपक्षेण मणिनेवाकुलं जलं ॥१२॥

यदि द्रोह (विद्वेष) या हिंसा तुम्हारे चित्तको क्षुब्ध करे तो उनके प्रतिपक्ष (भाव) द्वारा अपने चित्तको शुद्ध करो, जैसे गन्दे जलको मणिसे निर्मल करते हैं। १२

प्रतिपक्षस्तयोर्ज्ञेयो मैत्री कारुण्यमेव च।
विरोधो हि तयोर्नित्यं प्रकाशतमसोरिव ॥१३॥

मैत्री और करुणाको उनका प्रतिपक्ष समझना चाहिए; क्योंकि जैसे प्रकाश और अन्धकारके बीच वैसे ही उनके बीच शाश्वत विरोध है। १३

निवृत्तं यस्य दौःशील्यं व्यापादश्च प्रवर्तते ।
हन्ति पांसुभिरात्मानं स स्नात इव वारणः ॥१४॥

जिसका दुराचरण चला गया है, किंतु द्रोह (विद्वेष) विद्यमान है वह नहाये हुए हाथीके समान धूलसे अपनेको नष्ट (गंदा) करता है । १४

दुःखितेभ्यो हि मर्त्येभ्यो व्याधिमृत्युजरादिभिः ।
आर्यः को दुःखमपरं सघृणो धातुमर्हति ॥१५॥

व्याधि मृत्यु और जरा आदिसे दुःखित प्राणियोंको कौन दयालु सज्जन और भी दुःख देना चाहेगा ? १५

दुष्टेन चेह मनसा बाध्यते वा परो न वा ।
सद्यस्तु दह्यते तावत्स्वं मनो दुष्टचेतसः ॥१६॥

(द्रोह और हिंसासे) अपने चित्तके दूषित होनेपर दूसरेको पीड़ा हो सकती है या नहीं भी, किंतु दूषित चित्तवालेका अपना ही मन तत्क्षण जलने लगता है । १६

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु मैत्रीं कारुण्यमेव च ।
न व्यापादं विहिंसां वा विकल्पयितुमर्हसि ॥१७॥

इसलिए तुम्हें सब जीवोंके प्रति मैत्री और करुणाकी ही भावना करनी चाहिए, द्रोह या हिंसाकी नहीं । १७

यद्यदेव प्रसक्तं हि वितर्कयति मानवः ।
अभ्यासात्तेन तेनास्य नतिर्भवति चेतसः ॥१८॥

मनुष्य जिस जिस (वस्तु, विचार) का लगातार चिन्तन करता है अभ्यासवश उसी उसीकी ओर उसका मन झुक जाता है । १८

१५—पा० 'ध्यातुमर्हति' ।
१८—पा० 'गतिर्भवति' ।

तस्मादकुशलं त्यक्त्वा कुशलं ध्यातुमर्हसि ।
यत्ते स्यादिह चार्थाय परमार्थस्य चाप्तये ॥१९॥

इसलिए तुम्हें अकुशल (बुरे) को छोड़कर कुशल (अच्छे) का ही ध्यान करना चाहिए, जिससे कि इस लोकमें तुम्हारा लाभ हो और परमार्थकी प्राप्ति हो । १९

संवर्धन्ते ह्यकुशला वितर्काः संभृता हृदि ।
अनर्थजनकास्तुल्यमात्मनश्च परस्य च ॥२०॥

हृदयमें अकुशल वितर्कों (विचारों) को स्थान देनेसे वे बढ़ते ही जाते हैं और अपनेलिए तथा दूसरेकेलिए समान रूपसे अनर्थ-कारी होते हैं । २०

श्रेयसो विघ्नकरणाद्भवन्त्यात्मविपत्तये ।
पात्रीभावोपघातात्तु परभक्तिविपत्तये ॥२१॥

अपने श्रेय (कल्याण) में विघ्न उपस्थित करके वे (अकुशल वितर्क) अपनी विपत्तिकेलिए कारणरूप होते हैं तथा अपनी पात्रताका नाश करके दूसरोंकी भक्तिको भी नष्ट करते हैं । २१

मनःकर्मस्वविक्षेपमपि चाभ्यस्तुमर्हसि ।
नत्वेवाकुशलं सौम्य वितर्कयितुमर्हसि ॥२२॥

मानसिक कर्मों (=विचारों) में विक्षेप (=विघ्न) न हो इसका भी अभ्यास करना चाहिए, हे सौम्य, अकुशल वितर्कोंका तो तुम्हें चिन्तन ही न करना चाहिए । २२

या त्रिकामोपभोगाय चिन्ता मनसि वर्तते ।
न च तं गुणमाप्नोति बन्धनाय च कल्पते ॥२३॥

विविध कामोपभोगकी जो चिन्ता मनमें रहती है वह उत्तम नहीं है, उससे बन्धन होता है । २३

सत्त्वानामुपघाताय परिक्लेशाय चात्मनः ।
मोहं व्रजति कालुष्यं नरकाय च वर्तते ।।२४।।

प्राणियोंका नाश होता है, अपनेको ही क्लेश होता है, मोह एवं पाप होता है, तथा नरक मिलता है। २४

तद्वितर्कैरकुशलैर्नात्मानं हन्तुमर्हसि ।
सुशस्त्रं रत्नविकृतं मृद्धतो गां खनन्निव ।।२५।।

इसलिए जैसे (असावधानीसे) पृथ्वीको खनता हुआ मनुष्य अपनेको धूलसे ढककर अपने सुन्दर शस्त्रको रत्न (पत्थर) के सम्पर्कसे विकृत करता है वैसे ही अकुशल वितर्कोंसे अपनेको नष्ट मत करो। २५

अनभिज्ञो यथा जात्यं दहेदगुरु काष्ठवत् ।
अन्यायेन मनुष्यत्वमुपहन्यादिदं तथा ।।२६।।

जैसे अनभिज्ञ मनुष्य उत्तम अगुरु काष्ठको साधारण काष्ठके समान जला सकता है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति न्यायका पालन न करके इस दुर्लभ मनुष्यत्वको नष्ट कर सकता है। २६

२४—'व्रजति' के स्थानमें मैंने 'करोति' पढ़ा है। जौन्स्टनने 'कालुष्यं' (= चित्त की कलुषित अवस्था) को कर्त्ता मानकर तथा लाहा ने 'चात्मनः' के बदले 'वा मनः' पाठ के अनुसार मनको कर्त्ता मानकर अर्थ किया है।

२५—जौन्स्टन के अनुसार:—

इसलिए, जैसे पृथ्वी को खनता हुआ मनुष्य अपने शस्त्र-सुसज्जित एवं रत्नोंसे अलंकृत शरीर पर धूल फेंकता है, वैसे ही (स्मृति आदि शस्त्रोंसे सुसज्जित एवं त्रिरत्नोंसे अलंकृत) अपनेको अकुशल वितर्कोंसे नष्ट मत करो।

त्यक्त्वा रत्नं यथा लोष्टं रत्नद्वीपाच्च संहरेत्।
त्यक्त्वा नैःश्रेयसं धर्मं चिन्तयेदशुभं तथा ॥२७॥

जैसे कोई मनुष्य रत्नोंके द्वीपसे रत्नको छोड़कर ढेला ले आये वैसे ही परम कल्याणके साधक धर्मको त्यागकर अशुभका चिन्तन करे। २७

हिमवन्तं यथा गत्वा विषं भुञ्जीत नौषधं।
मनुष्यत्वं तथा प्राप्य पापं सेवेत नो शुभं ॥२८॥

जैसे हिमवन्तमें जाकर बिषको खा ले, (अमृतस्वरूप) ओषधिको नहीं, वैसे ही (दुर्लभ) मनुष्यत्व (मनुष्य-योनि) को पाकर पापका सेवन करे, शुभका नहीं। २८

तद्बुद्ध्वा प्रतिपक्षेण वितर्कं क्षेप्तुमर्हसि।
सूक्ष्मेण प्रतिकीलेन कीलं दार्वन्तरादिव ॥२९॥

यह जानकर तुम्हें प्रतिपक्ष-भावना द्वारा (अकुशल) वितर्कका निवारण करना चाहिए, जैसे कि काठके (छेदके) भीतरसे पतली पच्चलके द्वारा (बड़ी) पच्चलको बाहर कर देते हैं। २९

वृद्ध्यवृद्ध्योरथ भवेच्चिन्ता ज्ञातिजनं प्रति।
स्वभावो जीवलोकस्य परीक्ष्यस्तन्निवृत्तये ॥३०॥

यदि अपने भाई-बन्धुओं (स्वजन) की उन्नति-अवनतिकी चिन्ता तुम्हें सताये तो उसके निवारणकेलिए जीव-लोकके (वास्तविक) स्वभावको परखना चाहिए। ३०

संसारे कृष्यमाणानां सत्त्वानां स्वेन कर्मणा।
को जनः स्वजनः को वा मोहात्सक्तो जने जनः ॥३१॥

संसारमें अपने-अपने कर्मसे खींचे जाते हुए प्राणियोंका कौन

स्वजन है या कौन पराया ? मोहवश ही (एक) मनुष्य (दूसरे) मनुष्य में आसक्त होता है। ३१

अतीतेऽध्वनि संवृत्तः स्वजनो हि जनस्तव ।
अप्राप्ते चाध्वनि जनः स्वजनस्ते भविष्यति ॥३२॥

तुम्हारा जो (यहाँ) स्वजन है वह अतीतमें पराया (अपरिचित) था और जो (अब) पराया है वह भविष्यमें तुम्हारा स्वजन होगा।३२

विहगानां यथा सायं तत्र तत्र समागमः ।
जातौ जातौ तथाश्लेषो जनस्य स्वजनस्य च ॥३३॥

जैसे सायंकालमें स्थान-स्थान पर (अपने-अपने बसेरेमें) पक्षियों का समागम (मिलन) होता है, वैसे ही जन्म-जन्ममें पराये और स्वजनका सम्बन्ध (स्थापित) होता है। ३३

प्रतिश्रयं बहुविधं संश्रयन्ति यथाध्वगाः ।
प्रतियान्ति पुनस्त्यक्त्वा तद्वज्ज्ञातिसमागमः ॥३४॥

जैसे पथिक अनेक प्रकारके आश्रयोंकी शरण लेते हैं और फिर उन्हें छोड़कर (जहाँ-तहाँ) चले जाते हैं, वैसे ही जाति-बन्धुओंका समागम है। ३४

लोके प्रकृतिभिन्नेऽस्मिन्न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ।
कार्यकारणसंबद्धं बालुकामुष्टिवज्जगत् ॥३५॥

इस संसारमें, जहाँ स्वभावसे ही भिन्नता है, कोई किसीका प्रिय नहीं है, बालूकी मुठ्ठीकी तरह संसार कार्य और कारणसे बँधा हुआ है। ३५

बिभर्ति हि सुतं माता धारयिष्यति मामिति ।
मातरं भजते पुत्रो गर्भेणाधत्त मामिति ॥३६॥

'यह मेरी रक्षा करेगा' ऐसा सोचकर माता पुत्रका पालन-पोषण करती है, और इसने 'मुझे गर्भमें धारण किया था' ऐसा सोचकर पुत्र माताकी सेवा करता है। ३६

अनुकूलं प्रवर्तन्ते ज्ञातिषु ज्ञातयो यदा।
तदा स्नेहं प्रकुर्वन्ति रिपुत्वं तु विपर्ययात् ॥३७॥

जब स्वजन स्वजनके प्रति अनुकूल आचरण करते हैं तब वे परस्पर स्नेह करते हैं, किंतु प्रतिकूल आचरण होनेसे शत्रुता करते हैं। ३७

अहितो दृश्यते ज्ञातिरज्ञातिर्दृश्यते हितः।
स्नेहं कार्यान्तराल्लोकश्छिनत्ति च करोति च ॥३८॥

स्वजन शत्रु होते हैं और पराये मित्र होते हैं, ऐसा देखा जाता है, कार्यवश लोग स्नेह करते हैं और तोड़ते हैं। ३८

स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियं।
तथा कृत्वा स्वयं स्नेहं संगमेति जने जनः ॥३९॥

जैसे स्वयं ही नारीका चित्र बनाकर चित्रकार उससे अनुराग करने लगे, वैसे ही मनुष्य-मनुष्यसे स्वयं स्नेह और संगति करता है। ३९

योऽभवद्बान्धवजनः परलोके प्रियस्तव।
स ते कमर्थं कुरुते त्वं वा तस्मै करोषि कं ॥४०॥

परलोक (पूर्वजन्म) में जो तुम्हारे प्रिय स्वजन थे उनका तुम कौन उपकार करते हो और वे तुम्हारे लिए क्या करते हैं ? ४०

तस्माज्ज्ञातिवितर्केण मनो नावेष्टुमर्हसि।
व्यवस्था नास्ति संसारे स्वजनस्य जनस्य च ॥४१॥

इसलिए स्वजन-सम्बन्धी चिन्तासे अपने मन को आविष्ट मत करो, क्योंकि संसारमें अपने और परायेकी कोई (स्थायी) व्यवस्था नहीं है। ४१

असौ क्षेमो जनपदः सुभिक्षोऽसावसौ शिवः ।
इत्येवमथ जायेत वितर्कस्तव कश्चन ॥४२॥

वह देश शान्ति-प्रद, अन्नसे भरपूर, और सुखी है, यदि ऐसा कोई विचार तुम्हारे मनमें उठे ४२

प्रहेयः स त्वया सौम्य नाधिवास्यः कथंचन ।
विदित्वा सर्वमादीप्तं तैस्तैर्दोषाग्निभिर्जगत् ॥४३॥

तो हे सौम्य, उसका परित्याग करो और किसी भी प्रकार उसे ठहरने मत दो, क्योंकि तुम जानते हो कि विविध दोषों की अग्नियों से सारा संसार जल रहा है । ४३

ऋतुचक्रनिवर्ताच्च क्षुत्पिपासाक्लमादपि ।
सर्वत्र नियतं दुःखं न क्वचिद्विद्यते शिवं ॥४४॥

ऋतु-चक्रके पलटनेसे तथा भूख प्यास व थकावटसे सर्वत्र दुःख ही दुःख है, सुख कहीं नहीं है । ४४

क्वचिच्छीतं क्वचिद्धर्मः क्वचिद्रोगो भयं क्वचित् ।
बाधतेऽभ्यधिकं लोकं तस्मादशरणं जगत् ॥४५॥

कहीं सर्दीसे तो कहीं गर्मीसे, कहीं रोगसे तो कहीं भय (विपत्ति) से लोग अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं; इसलिए संसार शरण-रहित है । ४५

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च लोकस्यास्य महद्भयं ।
नास्ति देशः स यत्रास्य तद्भयं नोपपद्यते ॥४६॥

४४—तीसरे पादका अविकल अर्थ होगा—'सर्वत्र दुःख निश्चित (अवश्यंभावी) है ।'

४५—पा० 'लोके' ।

बुढ़ापा रोग और मृत्यु इस संसार का महाभय है, ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ लोगों को यह (महा-) भय नहीं होता हो। ४६

यत्र गच्छति कायोऽयं दुःखं तत्रानुगच्छति।
नास्ति काचिद्गतिर्लोके गतो यत्र न बाध्यते ॥४७॥

जहाँ यह शरीर जाता है वहाँ दुःख भी पीछा करता है, संसार में ऐसा कोई आश्रय (ठौर, स्थान) नहीं है जहाँ जाने पर लोग पीड़ित न होते हों। ४७

रमणीयोऽपि देशः सन्सुभिक्षः क्षेम एव च।
कुदेश इति विज्ञेयो यत्र क्लेशैर्विदह्यते ॥४८॥

अन्नसे भरपूर रमणीय तथा शान्ति-प्रद (आराम-प्रद) होने पर भी (उस) देशको कुदेश ही समझना चाहिए जहाँ कि लोग क्लेशोंसे जलते रहते हैं। ४८

लोकस्याभ्याहतस्यास्य दुःखैः शारीरमानसैः।
क्षेमः कश्चिन्न देशोऽस्ति स्वस्थो यत्र गतो भवेत् ॥४९॥

शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित रहनेवाले लोगोंकेलिए ऐसा कोई भी शान्तिप्रद देश नहीं है जहाँ जाकर वे स्वस्थ हो सकें। ४६

दुःखं सर्वत्र सर्वस्य वर्तते सर्वदा यदा।
छन्दरागमतः सौम्य लोकचित्रेषु मा कृथाः ॥५०॥

जबकि सर्वत्र सबको सर्वदा दुःख होता ही रहता है, तब, हे सौम्य, संसारकी विचित्रताओं (चित्र-विचित्र पदार्थों) में छन्द-राग (आसक्ति, अनुराग, अभिलाषा) न करो। ५०

यदा तस्मान्निवृत्तस्ते छन्दरागो भविष्यति।
जीवलोकं तदा सर्वमादीप्तमिव मंस्यसे ॥५१॥

इसलिए, जब तुम्हारा छन्दराग निवृत्त हो जायगा तब समस्त जीव-लोक जैसे जल रहा हो, ऐसा समझोगे। ५१

अथ कश्चिद्वितर्कस्ते भवेदमरणाश्रयः।
यत्नेन स विहन्तव्यो व्याधिरात्मगतो यथा ॥५२॥

'मैं मरूँगा नहीं' इस आधार पर यदि कोई विचार तुम्हारे मनमें उठे तो उसे अपने शरीरमें उत्पन्न हुए रोगके समान मार डालो। ५२

मुहूर्तमपि विश्रम्भः कार्यो न खलु जीविते।
निलीन इव हि व्याघ्रः कालो विश्वस्तघातकः ॥५३॥

मुहूर्त भरकेलिए भी इस जीवनमें विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि छिपे हुए बाघके समान काल विश्वास करनेवाले (निश्शङ्क रहनेवाले) की हत्या करता है। ५३

बलस्थोऽहं युवा वेति न ते भवितुमर्हति।
मृत्युः सर्वास्ववस्थासु हन्ति नावेक्षते वयः ॥५४॥

'मैं बलवान् हूँ या युवा हूँ' ऐसा भाव तुम्हारे मनमें नहीं होना चाहिए। मृत्यु सब अवस्थाओंमें मारती है, (युवा-) अवस्थाका ख्याल नहीं करती है। ५४

क्षेत्रभूतमनर्थानां शरीरं परिकर्षतः।
स्वास्थ्याशा जीविताशा वा न दृष्टार्थस्य जायते ॥५५॥

अनर्थोंके क्षेत्ररूप शरीरको घसीटते हुए तत्त्वदर्शीको स्वास्थ्य या जीवनकी आशा (तृष्णा) नहीं होती है। ५५

निर्वृतः को भवेत्कायं महाभूताश्रयं वहन्।
परस्परविरुद्धानामहीनामिव भाजनं ॥५६॥

परस्पर-विरोधी सर्पोंके (रहनेके) पात्रके समान (पञ्च-)महाभूतोंके आश्रयरूप शरीरको ढोता हुआ कौन मनुष्य सुखी हो सकता है। ५६

प्रश्वसित्ययमन्वक्षं यदुच्छ्वसिति मानवः।
अवगच्छ तदाश्चर्यमविश्वास्यं हि जीवितं ॥५७॥

यह मानव साँस लेता (खींचता) है और फिर तुरन्त ही छोड़ता है, इसे आश्चर्य समझो; क्योंकि जीवन विश्वसनीय नहीं है। ५७

इदमाश्चर्यमपरं यत्सुप्तः प्रतिबुध्यते।
स्वपित्युत्थाय वा भूयो बह्वमित्रा हि देहिनः ॥५८॥

यह दूसरा आश्चर्य है कि सोया हुआ मनुष्य जाग उठता है और उठकर फिर सो रहता है; क्योंकि शरीर-धारीके अनेक शत्रु हैं। ५८

गर्भात्प्रभृति यो लोकं जिघांसुरनुगच्छति।
कस्तस्मिन्विश्वसेन्मृत्यावुद्यतासावरावित्र ॥५९॥

गर्भ-कालसे ही जो (मृत्यु) लोगों को मारनेकी इच्छासे उनका पीछा करती है, तलवार उठाये हुए शत्रुके समान उस मृत्युमें कौन विश्वास करेगा ? ५९

प्रसूतः पुरुषो लोके श्रुतवान्बलवानपि।
न जयत्यन्तकं कश्चिन्नाजयन्नापि जेष्यति ॥६०॥

संसारमें उत्पन्न हुआ मनुष्य, विद्वान् और बलवान् होनेपर भी, मृत्युको न जीत सकता है, न जीत सका है, और न जीत सकेगा। ६०

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन नियमेन वा।
प्राप्तो हि रभसो मृत्युः प्रतिहन्तुं न शक्यते ॥६१॥

साम दान भेद दण्ड और नियम (संयम) किसी (उपाय)से भी, वेगपूर्वक पहुँची हुई मृत्युको नहीं रोका जा सकता है। ६१

तस्मान्नायुषि विश्वासं चञ्चले कर्तुमर्हसि।
नित्यं हरति कालो हि स्थाविर्यं न प्रतीक्षते ॥६२॥

इसलिए तुम्हें चञ्चल जीवनमें विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि काल नित्य ही (लोगोंका) हरण कर रहा है, बुढ़ापेकी प्रतीक्षा नहीं करता है। ६२

निःसारं पश्यतो लोकं तोयबुद्बुददुर्बलं।
कस्यामरवितर्को हि स्यादनुन्मत्तचेतसः ॥६३॥

संसारको पानीके बुलबुलेके समान दुर्बल (क्षण-भंगुर) तथा असार देखता हुआ कौन स्वस्थचित्त व्यक्ति सोचेगा कि वह अमर है ? ६३

तस्मादेषां वितर्काणां प्रहाणार्थं समासतः।
आनापानस्मृतिं सौम्य विषयीकर्तुमर्हसि ॥६४॥

इसलिए, हे सौम्य, इन (अकुशल) वितर्कोंके विनाशके लिए, संक्षेपमें, प्रश्वास और निःश्वासकी स्मृतिको वशमें करो। ६४

इत्यनेन प्रयोगेण काले सेवितुमर्हसि।
प्रतिपक्षान्वितर्काणां गदानामगदानिव ॥६५॥

इसी प्रकार समयपर तुम्हें (अकुशल) वितर्कोंके (विनाशके लिए) प्रतिपक्षोंका चिन्तन करना चाहिए, जैसे रोग (दूर करने) के लिए औषधिका सेवन करते हैं। ६५

सुवर्णहेतोरपि पांसुधावको
विहाय पांसून्बृहतो यथादितः।
जहाति सूक्ष्मानपि तद्विशुद्धये
विशोध्य हेमावयवान्नियच्छति ॥६६॥

जिस प्रकार सुवर्ण प्राप्त करनेके लिए धूल धोनेवाला आदमी आरम्भसे ही बड़े बड़े धूलके कणोंको निकालता हुआ, उसकी

(अत्यन्त) शुद्धिकेलिए बारीक कणोंको भी निकालता है और शुद्ध करके सुवर्ण-कणोंको रख लेता है, ६६

विमोक्षहेतोरपि युक्तमानसो
विहाय दोषान्बृहतस्तथादितः ।
जहाति सूक्ष्मानपि तद्विशुद्धये
विशोध्य धर्मावयवान्नियच्छति ॥६७॥

उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करनेके लिए योगी आरम्भसे ही बड़े-बड़े दोषोंको छोड़ता हुआ, चित्तकी (अत्यन्त) शुद्धिकेलिए सूक्ष्म दोषोंको भी छोड़ता है और शुद्ध करके धर्मके अवयवोंको रख लेता है । ६७

क्रमेणाद्भिः शुद्धं कनकमिह पांसुव्यवहितं
यथाग्नौ कर्मारः पचति भृशमावर्तयति च ।
तथा योगाचारो निपुणमिह दोषव्यवहितं
विशोध्य क्लेशेभ्यः शमयति मनः संक्षिपति च ॥६८॥

जिस प्रकार इस संसारमें सुनार धूलसे ढके हुए सोनेको क्रमपूर्वक जलसे शुद्ध करके अग्निमें पकाता (तपाता) है और बार-बार उलटता-पुलटता है, उसी प्रकार योगाचारी व्यक्ति दोष-युक्त चित्तको दोषों से अच्छी तरह शुद्ध करके, अपने मनको शान्त और संकुचित करता है । ६८

यथा च स्वच्छन्दादुपनयति कर्माश्रयसुखं
सुवर्णं कर्मारो बहुविधमलंकारविधिषु ।
मनःशुद्धो भिक्षुर्वशगतमभिज्ञास्वपि तथा
यथेच्छं यत्रेच्छं शमयति मनः प्रेरयति च ॥६६॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये वितर्कप्रहाणो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

और जिस प्रकार सुनार अनेक प्रकारसे प्रस्तुत तथा आसानीसे काम करने लायक सोनेको स्वेच्छानुसार भाँति भाँतिके अलङ्कारोंमें परिणत कर देता है, उसी प्रकार जिस भिक्षुने मनको शुद्ध कर लिया है और ऋद्धियों (दिव्य शक्तियों) के सम्बन्धमें अपने मनको वशमें कर लिया है वह, जैसे चाहता है और जहाँ चाहता है, अपने मनको शान्त कर लेता है और प्रेरित करता है। ६९

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "वितर्क-प्रहाण" नामक
पञ्चदश सर्ग समाप्त।

षोडश सर्ग

आर्य सत्योंकी व्याख्या

एवं मनोधारणया क्रमेण व्यपोह्य किंचित्समुपोह्य किंचित्।
ध्यानानि चत्वार्यधिगम्य योगी प्राप्नोत्यभिज्ञा नियमेन पञ्च ॥१॥

इस प्रकार मानसिक एकाग्रता द्वारा क्रमसे कुछ छोड़कर और कुछ ग्रहणकर योगी चार ध्यानोंको प्राप्त करके निश्चय ही (इन) पाँच अभिज्ञाओंको प्राप्त करता है :— १

ऋद्धिप्रवेकं च बहुप्रकारं परस्य चेतश्चरितावबोधं।
अतीतजन्मस्मरणं च दीर्घं दिव्ये विशुद्धे श्रुतिचक्षुषी च ॥२॥

अनेक प्रकारकी उत्तम ऋद्धियाँ (दिव्य शक्तियाँ), दूसरेके चित्तकी गतिका ज्ञान, अनेक अतीत जन्मोंकी स्मृति तथा दिव्य और विशुद्ध श्रोत्र एवं दृष्टि। २

अतः परं तत्त्वपरीक्षणेन मनो दधात्यास्रवसंक्षयाय।
ततो हि दुःखप्रभृतीनि सम्यक्चत्वारि सत्यानि पदान्यवैति॥३

इसके बाद तत्त्वकी परीक्षा द्वारा वह अपने मनको आस्रवों (चित्त-मलों) के विनाशमें लगाता है; क्योंकि तब वह दुःख आदि चार सत्योंको सम्यक् रूपसे जान लेता है। ३

बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयं।
दुःखक्षयो निःसरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः ॥४॥

यह दुःख निरन्तर रहनेवाला है, इसकी आत्मा (धर्म, गुण) है पीड़ा; यह दुःखका कारण है, इसकी आत्मा है उत्पत्ति; यह

दुःखका क्षय है, इसकी आत्मा है निःसरण (निकलना); यह शान्तिका मार्ग है, इसकी आत्मा है त्राण (रक्षा) । ४

इत्यार्यसत्यान्यवबुध्य बुद्ध्या चत्वारि सम्यक् प्रतिविध्य चैव ।
सर्वास्रवान् भावनयाभिभूय न जायते शान्तिमवाप्य भूयः ॥५॥

इस प्रकार चार आर्य सत्योंको बुद्धिद्वारा ठीक ठीक समझ बूझकर और भावनाद्वारा सभी आस्रवों (चित्त-मलों) को जीतकर वह शान्ति प्राप्त करता है और फिर जन्म नहीं लेता है । ५

अबोधतो ह्यप्रतिवेधतश्च तत्त्वात्मकस्यास्य चतुष्टस्य ।
भवाद्भवं याति न शान्तिमेति संसारदोलामधिरुह्य लोकः ॥६॥

इस तत्त्वात्मक चार (सत्य–समूह) को न समझ बूझ सकनेके कारण मनुष्य संसाररूपी दोला पर चढ़कर एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाता है और शान्ति नहीं प्राप्त करता है । ६

तस्माज्जरादेर्व्यसनस्य मूलं समासतो दुःखमवेहि जन्म ।
सर्वौषधीनामिव भूर्भवाय सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म ॥७॥

इसलिए संक्षेपमें जानो कि जरा आदि विपत्तियोंका मूल जन्म-रूपी दुःख है, जैसे सभी ओषधियोंकी उत्पत्ति भूमिसे होती है वैसे ही सभी विपत्तियोंका (उत्पत्ति-) क्षेत्र जन्म है ।७

यज्जन्म रूपस्य हि सेन्द्रियस्य दुःखस्य तन्नैकविधस्य जन्म ।
यः संभवश्चास्य समुच्छ्रयस्य मृत्योश्च रोगस्य च संभवः सः ॥८॥

इन्द्रियों सहित रूपकी जो उत्पत्ति है वही उत्पत्ति (कारण) है अनेक प्रकारके दुःख की । इस शरीरका जो कारण है वही कारण है मृत्यु और रोगका । ८

सद्वाप्यसद्वा विषमिश्रमन्नं यथा विनाशाय न धारणाय ।
लोके तथा तिर्यगुपर्यधो वा दुःखाय सर्वं न सुखाय जन्म ॥९॥

जैसे विष मिला हुआ अन्न, अच्छा हो या बुरा, विनाशक ही होता है न कि रक्षक या पोषक, वैसे ही संसार में पशु-पक्षियों की ऊपरकी या नीचेकी योनिमें कहीं भी जन्म लेना दुःखका ही कारण होता है सुखका नहीं। ९

जरादयो नैकविधा प्रजानां सत्यां प्रवृत्तौ प्रभवन्त्यनर्थाः।
प्रवात्सु घोरेष्वपि मारुतेषु न ह्यप्रसूतास्तरवश्चलन्ति ॥ १० ॥

सांसारिक प्रवृत्तिके रहते प्राणियोंको बुढ़ापा आदि अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ होती हैं। (किंतु प्रवृत्ति अर्थात् जन्मके अभावमें उन्हें ये विपत्तियाँ नहीं सहनी पड़ती हैं), जैसे भीषण आँधीके चलते रहनेपर भी अनुत्पन्न वृक्ष चलायमान नहीं होते। १०

आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि ॥११॥

जैसे आकाशमें हवाकी उत्पत्ति होती है, शमी नामक लकड़ीके भीतर अग्नि रहती है और पृथ्वीके भीतर पानी रहता है वैसे ही चित्त और शरीर में दुःखकी उत्पत्ति होती है। ११

अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्ण्यमग्नेः।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दुःखं शरीरस्य च चेतसश्च॥१२

पानीका द्रवत्व, पृथ्वीकी कठोरता (ठोस होनेका गुण), हवाकी अस्थिरता और अग्निकी उष्णता स्वभाव है वैसे ही चित्त और शरीरका स्वभाव दुःख है। १२

काये सति व्याधिजरादि दुःखं क्षुत्तर्षवर्षोष्णहिमादि चैव।
रूपाश्रिते चेतसि सानुबन्धे शोकारतिक्रोधभयादि दुःखं ॥१३॥

शरीरके रहते रोग बुढ़ापा आदि तथा भूख-प्यास गर्मी-सर्दी वर्षा

आदि दुःख होते ही हैं वैसे ही रूपमें आश्रित तथा अनुबन्ध-युक्त चित्तमें शोक अरति क्रोध भय आदि दुःख होते ही हैं। १३

प्रत्यक्षमालोक्य च जन्मदुःखं दुःखं तथातीतमपीति विद्धि।
यथा च तद्दुःखमिदं च दुःखं दुःखं तथानागतमप्यवेहि ॥१४॥

जन्मके दुःखको प्रत्यक्ष देखकर बीते हुए दुःखको भी वैसा ही समझो और जैसा कि वह (बीता हुआ) दुःख था और यह (वर्तमान) दुःख है वैसा ही भावी दुःखको भी समझो। १४

बीजस्वभावो हि यथेह दृष्टो भूतोऽपि भव्योऽपि तथानुमेयः।
प्रत्यक्षतश्च ज्वलनो यथोष्णो भूतोऽपि भव्योऽपि तथोष्ण एव

बीजका जैसा स्वभाव यहाँ देखा जाता है वैसा ही (अतीतमें) था और वैसा ही (भविष्यमें) रहेगा भी, यह अनुमान करना चाहिए। और, अग्नि प्रत्यक्षमें जैसी गर्म है वैसी ही गर्म थी और रहेगी भी। १५

तन्नामरूपस्य गुणानुरूपं यत्रैव निर्वृत्तिरुदारवृत्त।
तत्रैव दुःखं न हि तद्विमुक्तं दुःखं भविष्यत्यभवद्भवेद्वा ॥१६॥

हे उदार आचरणवाले, गुणोंके अनुसार जहाँ नाम-रूपकी निष्पत्ति होती है वहीं दुःख है, इसको छोड़कर और कहीं भी दुःख न है न था और न होगा। १६

प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तं।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा

संसारमें इस प्रवृत्ति (जन्म) रूपी दुःखका कारण तृष्णा आदि दोषोंका समूह है; ईश्वर प्रकृति काल स्वभाव विधि या संयोग इसका कारण नहीं है। १७

ज्ञातव्यमेतेन च कारणेन लोकस्य दोषेभ्य इति प्रवृत्तिः।
यस्मान्म्रियन्ते सरजस्तमस्का न जायते वीतरजस्तमस्कः॥१८॥

अतः जानना चाहिए कि दोषोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है; जो रज (मनका मैल) और तम (चित्तका अन्धकार) से युक्त हैं वे (फिरसे जन्म लेनेकेलिए) मरते हैं, किन्तु जिसका रज और तम नष्ट हो गया है वह फिर जन्म नहीं लेता है। १८

इच्छाविशेषे सति तत्र तत्र यानासनादेर्भवति प्रयोगः।
यस्मादतस्तर्षवशात्तथैव जन्म प्रजानामिति वेदितव्यं॥१६॥

उस उस विषयकी इच्छा होनेपर ही चलने और बैठने आदिकी क्रिया होती है, इसलिए जानना चाहिए कि तृष्णाके वशीभूत होनेपर ही प्राणियोंका जन्म होता है। १६

सत्त्वान्यभिष्वङ्गवशानि दृष्ट्वा स्वजातिषु प्रीतिपराण्यतीव।
अभ्यासयोगादुपपादितानि तैरेव दोषैरिति तानि विद्धि॥२०॥

जीव आसक्तियोंके अधीन और अपने अपने जन्म (जीवन, योनि) से प्रीति करते हुए देखे जाते हैं; (आसक्तियों और प्रीतिके) अभ्यासके कारण ही वे उन दोषोंके साथ फिर जन्म लेते हैं, ऐसा जानना चाहिए। २०

क्रोधप्रहर्षादिभिराश्रयाणामुत्पद्यते चेह यथा विशेषः।
तथैव जन्मस्वपि नैकरूपो निर्वर्तते क्लेशकृतो विशेषः॥२१॥

जैसे इस संसारमें क्रोध और प्रसन्नता आदिके द्वारा प्राणियोंमें विशेषता होती है (अर्थात् कोई क्रोधी और कोई प्रसन्नचित्त होता है) वैसे ही भिन्न भिन्न जन्मोंमें अपने अपने दोषोंके कारण उनमें अनेक प्रकारकी विशेषता होती है। २१

दोषाधिके जन्मनि तीव्रदोष उत्पद्यते रागिणि तीव्ररागः ।
मोहाधिके मोहबलाधिकश्च तदल्पदोषे च तदल्पदोषः ॥२२॥

जिसमें दोषोंकी अधिकता होती है उसका जन्म होनेपर तीव्र दोष उत्पन्न होता है, जिसमें (अत्यन्त) राग होता है उसका जन्म होनेपर तीव्र राग उत्पन्न होता है, जिसमें मोहाधिक्य होता है उसका जन्म होनेपर मोह-बलकी अधिकता होती है और जिसमें अल्प दोष होता है उसका जन्म होनेपर अल्प दोष होता है। २२

फलं हि यादृक् समवैति साक्षात्तदागमाद्बीजमवैत्यतीतं ।
अवेत्य बीजप्रकृतिं च साक्षादनागतं तत्फलमभ्युपैति ॥२३॥

मनुष्य फलको साक्षात् जैसा देखता है, उसीके अनुसार उसके अतीत (पूर्व) बीजको (वैसा ही) समझ लेता है और बीजके स्वभावको साक्षात् देखकर उसके अनागत (भावी) फलको भी समझ लेता है। २३

दोषक्षयो जातिषु यासु यस्य वैराग्यतस्तासु न जायते सः ।
दोषाशयस्तिष्ठति यस्य यत्र तस्योपपत्तिर्विवशस्य तत्र ॥२४॥

जिन (प्रकारोंके) जन्मोंमें जिसके दोषोंका नाश हो गया है उनमें वैराग्य होनेके कारण वह फिर जन्म नहीं लेता; किन्तु जिन (प्रकारोंके जन्मों) में जिसका दोषाशय रह जाता है उनमें वह विवश होकर जन्म लेता है। २४

तज्जन्मनो नैकविधस्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवेत्य ।
तांश्छिन्धि दुःखाद्यदि निर्मुमुक्षा कार्यक्षयः कारणसंक्षयाद्धि ॥२५

इसलिए, हे सौम्य, अनेक प्रकारके जन्मोंके कारण हैं तृष्णा आदि दोष; यदि दुःखसे मुक्त होनेकी इच्छा है तो उन दोषोंको काटो, क्योंकि कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है। २५

दुःखक्षयो हेतुपरिक्षयाच्च शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्मं।
तृष्णाविरागं लयनं निरोधं सनातनं त्राणमहार्यमार्यं ॥ २६ ॥

कारणका नाश होनेसे दुःखका नाश होता है। शान्त एवं मङ्गलमय धर्मका साक्षात्कार करो, जो तृष्णा-विनाशक आश्रय-रूप, निरोध रूप, सनातन, रक्षक, अविनाशी और पवित्र है। २६

यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः।
नेच्छाविपन्न प्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ॥२७॥

(उस पदकी खोज करो) जिसके प्राप्त होनेपर न जन्म होता है, न बुढ़ापा, न मृत्यु, न व्याधि, न अप्रिय-संयोग, न इच्छा-विघात (या इच्छा रूपी विपत्ति) और न प्रिय-वियोग; वह कल्याण-कारी पद नैष्ठिक और अक्षय है। २७

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिं॥२८

जिस प्रकार निर्वाणको प्राप्त हुआ दीप न पृथ्वीपर रहता है, न आकाशमें जाता है, न किसी दिशा या विदिशामें, किंतु तेल समाप्त हो जानेपर केवल शान्तिको प्राप्त होता है;। २८

एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिं॥२९

उसी प्रकार निर्वाणको प्राप्त हुआ धन्य (पुण्यात्मा, पवित्र, साधु) पुरुष न पृथ्वीपर रहता है, न आकाशमें जाता है, और न किसी दिशा या विदिशामें ही; किंतु क्लेशों (पापों, दोषों) का नाश होनेपर केवल शान्तिको प्राप्त होता है। २९

अस्याभ्युपायोऽधिगमाय मार्गः प्रज्ञात्रिकल्पः प्रशमद्विकल्पः।
स भावनीयो विधिवद्बुधेन शीले शुचौ त्रिप्रमुखे स्थितेन ॥३०॥

इसकी प्राप्तिका उपाय है वह मार्ग, जो त्रिविध प्रज्ञा एवं द्विविध शान्तिसे युक्त है; पवित्र त्रिविध शीलमें स्थित होकर बुद्धिमान् मनुष्यको उस (मार्ग) की भावना करनी चाहिए। ३०

वाक्कर्म सम्यक् सहकायकर्म यथावदाजीवनयश्च शुद्धः।
इदं त्रयं वृत्तविधौ प्रवृत्तं शीलाश्रयं कर्मपरिग्रहाय ॥३१॥

वाणी और शरीरके सम्यक् कर्म और शुद्ध आजीविका—ये तीनों आचरणसे सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय शील है, इनके द्वारा कर्मोंका निग्रह होता है। ३१

सत्येषु दुःखादिषु दृष्टिरार्या सम्यग्वितर्कश्च पराक्रमश्च।
इदं त्रयं ज्ञानविधौ प्रवृत्तं प्रज्ञाश्रयं क्लेशपरिक्षयाय ॥३२॥

दुःख आदि सत्योंके विषयमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार और सम्यक् प्रयत्न—ये तीन ज्ञानसे सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय प्रज्ञा है, इनके द्वारा क्लेशोंका नाश होता है। ३२

न्यायेन सत्याधिगमाय युक्ता सम्यक् स्मृतिः सम्यगथो समाधिः।
इदं द्वयं योगविधौ प्रवृत्तं शमाश्रयं चित्तपरिग्रहाय ॥३३॥

सम्यक् स्मृति, जो सत्यकी प्राप्तिमें न्यायपूर्वक लगी हुई हो तथा सम्यक् समाधि—ये दो योगसे सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय शम (शान्ति) है, इनके द्वारा चित्तका निग्रह होता है। ३३

क्लेशांकुरान्न प्रतनोति शीलं बीजांकुरान् काल इवातिवृत्तः।
शुचौ हि शीले पुरुषस्य दोषा मनः सलज्जा इव धर्षयन्ति ॥३४॥

शीलके रहते क्लेशों (दोषों) के अंकुर नहीं पनप सकते, जैसे अकालमें बीजोंसे अंकुर नहीं उग सकते। पवित्र शीलमें रहनेवाले मनुष्यके मनपर आक्रमण करनेमें दोष भी मानो लज्जित होते हैं। ३४

क्लेशांस्तु विष्कम्भयते समाधिर्वेगानिवाद्रिर्महतो नदीनां ।
स्थिते समाधौ हि न धर्षयन्ति दोषा भुजंगा इव मन्त्रबद्धाः ॥३५॥

समाधि क्लेशोंको रोकती है, जैसे पर्वत नदियोंके महावेगमें रुकावट डालता है। समाधिस्थ होने पर मन्त्र-बद्ध सर्पोंके समान दोष आक्रमण नहीं कर सकते। ३५

प्रज्ञा त्वशेषेण निहन्ति दोषांस्तीरद्रुमान्प्रावृषि निम्नगेव ।
दग्धा यया न प्रभवन्ति दोषा वज्राग्निनेवानुसृतेन वृक्षाः ॥३६॥

प्रज्ञा दोषोंको निःशेष मार डालती है, जैसे वर्षाकालमें नदी अपने तटवर्ती वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है। प्रज्ञासे दग्ध होकर दोष उत्पन्न नहीं होते, जैसे फैलती हुई वज्राग्निसे जलकर वृक्ष नहीं पनपते। ३६

त्रिस्कन्धमेतं प्रविगाह्य मार्गं प्रस्पष्टमष्टाङ्गमहार्यमार्यं ।
दुःखस्य हेतून्प्रजहाति दोषान्प्राप्नोति चात्यन्तशिवं पदं तत् ॥३७॥

(शील–समाधि–प्रज्ञा रूपी) तीन स्कन्धोंवाले इस स्पष्ट अष्टाङ्गिक अविनाशी और आर्य मार्गपर आरूढ़ होकर मनुष्य दुखके हेतुरूप दोषोंको छोड़ता है और उस अत्यन्त मङ्गलमय (निर्वाण–) पदको प्राप्त करता है। ३७

अस्योपचारे धृतिरार्जवं च ह्रीरप्रमादः प्रविविक्तता च ।
अल्पेच्छता तुष्टिरसंगता च लोकप्रवृत्तावरतिः क्षमा च ॥३८॥

इस (दुःख) के उपचारमें धैर्य, सरलता, लज्जा, अप्रमाद (सावधानी), एकान्त, अल्पेच्छता, संतोष, आसक्तिके अभाव, सांसारिक प्रवृत्तिमें अरुचि और क्षमाकी आवश्यकता होती है। ३८

याथात्म्यतो विन्दति यो हि दुःखं तस्योद्भवं तस्य च यो निरोधं ।
आर्येण मार्गेण स शान्तिमेति कल्याणमित्रैः सह वर्तमानः ॥३९॥

जो मनुष्य दुःख, उसकी उत्पत्ति और उसके निरोधको ठीक-ठीक जानता है वह कल्याण-कारी मित्रोंके साथ रहता हुआ आर्य मार्गसे चलकर शान्ति प्राप्त करता है। ३९

यो व्याधितो व्याधिमवैति सम्यग् व्याधेर्निदानं च तदौषधं च।
आरोग्यमाप्नोति हि सोऽचिरेण मित्रैरभिज्ञैरुपचर्यमाणः ॥४०॥

जो रोगी रोग-निदान और रोगकी औषधिको ठीक-ठीक जानता है वह निपुण मित्रोंकी चिकित्सामें रहकर शीघ्र आरोग्य प्राप्त करता है। ४०

तद्व्याधिसंज्ञां कुरु दुःखसत्ये दोषेष्वपि व्याधिनिदानसंज्ञाम्।
आरोग्यसंज्ञां च निरोधसत्ये भैषज्यसंज्ञामपि मार्गसत्ये ॥४१॥

इसलिए दुःख-सत्यको रोग, दोषोंको रोग-निदान, निरोध-सत्य को आरोग्य तथा मार्ग-सत्यको औषधि समझो। ४१

तस्मात्प्रवृत्तिं परिगच्छ दुःखं प्रवर्तकानप्यवगच्छ दोषान्।
निवृत्तिमागच्छ च तन्निरोधं निवर्तकं चाप्यवगच्छ मार्गं ॥४२॥

इसलिए दुःखको प्रवृत्ति, दोषोंको प्रवर्तक (प्रवृत्तिके कारण), निरोधको निवृत्ति और मार्गको निवर्तक (निवृत्तिका उपाय) समझो। ४२

शिरस्यथो वाससि संप्रदीप्ते सत्याववोधाय मतिर्विचार्या।
दग्धं जगत्सत्यनयं ह्यदृष्ट्वा प्रदह्यते संप्रति धक्ष्यते च ॥४३॥

शिर और वस्त्रके जलते रहनेपर भी सत्यके समझनेमें अपनी बुद्धिको लगाओ; क्योंकि सत्यको नहीं देखनेके कारण यह संसार जला है, संप्रति जल रहा है और जलेगा। ४३

यदैव यः पश्यति नामरूपं क्षयीति तद्दर्शनमस्य सम्यक्।
सम्यक्च निर्वेदमुपैति पश्यन्नन्दीक्षयाच्च क्षयमेति रागः ॥४४॥

जब मनुष्य नामरूप (पंच-स्कन्ध, corporeality) को नाशवान् देखता है तब वह ठीक-ठीक देखता है; और ठीक-ठीक देखता हुआ वह सम्यक् निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है और नन्दी (तृष्णा) का नाश होनेसे उसका राग नष्ट हो जाता है। ४४

तयोश्च नन्दीरजसोः क्षयेण सम्यग्विमुक्तं प्रवदामि चेतः।
सम्यग्विमुक्तिर्मनसश्च ताभ्यां न चास्य भूयः करणीयमस्ति ४५

नन्दी और रागका नाश होनेसे, मैं कहता हूँ, उसके चित्तकी सम्यक् मुक्ति होती है और इन दोनों से चित्तकी सम्यक् मुक्ति होने पर उसके लिए और कुछ करनेको नहीं रह जाता है। ४५

यथास्वभावेन हि नामरूपं तद्धेतुमेवास्तगमं च तस्य।
विजानतः पश्यत एव चाहं ब्रवीमि सम्यक्क्षयमास्रवाणां ॥४६॥

जो मनुष्य नामरूपके वास्तविक स्वभाव, उसके कारण और उसके नाश होनेको देखता और जानता है, मैं कहता हूँ, उसके आस्रव (चित्त-मल) अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं। ४६

तस्मात्परं सौम्य विधाय वीर्यं शीघ्रं घटस्वास्रवसंक्षयाय।
दुःखाननित्यांश्च निरात्मकांश्च धातून्विशेषेण परीक्षमाणः ।४७

इसलिए, हे सौम्य, खूब उद्योग करके आस्रवोंको नष्ट करनेकी चेष्टा करो और दुःखरूप अनित्य तथा अनात्म धातुओंकी विशेष रूपसे परीक्षा करो। ४७

धातून्हि षड् भूसलिलानलादीन्सामान्यतः स्वेन च लक्षणेन।
अवैति यो नान्यमवैति तेभ्यः सोऽत्यन्तिकं मोक्षमवैति तेभ्यः ४८

जो मनुष्य पृथ्वी जल अग्नि आदि छः धातुओंको सामान्य रूपसे और विशिष्ट रूपसे समझता है और जो उनको छोड़कर

और कुछ नहीं है ऐसा समझता है, वह उनसे होनेवाली आत्यन्तिक मुक्तिको समझता है। ४८

क्लेशप्रहाणाय च निश्चितेन कालोऽभ्युपायश्च परीक्षितव्यः।
योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय ॥४९॥

जिसने क्लेशोंका नाश करनेके लिए निश्चय किया है उसको काल और उपायकी परीक्षा करनी चाहिए। असमयमें और अनुचित उपायसे यदि योगाभ्यास किया जाय तो उससे भी अनर्थ ही होता है, लाभ नहीं होता है। ४९

अजातवत्सां यदि गां दुहीत नैवाप्नुयात्क्षीरमकालदोही।
कालेऽपि वा स्यान्न पयो लभेत मोहेन शृङ्गाद्यदि गां दुहीत ॥५०

जिस गायको बछड़ा नहीं हुआ है उसको यदि दूहा जाय तो असमय में दूहनेवाला मनुष्य दूध नहीं पायेगा; या यदि समय पर ही मनुष्य मूढ़तावश गायके सींगको दूहे तो भी वह दूध नहीं पायेगा। ५०

आर्द्राच्च काष्ठाज्ज्वलनाभिकामो नैव प्रयत्नादपि वह्निमृच्छेत्।
काष्ठाच्च शुष्कादपि पातनेन नैवाग्निमाप्नोत्यनुपायपूर्वं ॥५१॥

अग्नि चाहनेवाला मनुष्य गीले काठसे प्रयत्न करके भी अग्नि नहीं पायेगा और सूखे काठको यदि (केवल नीचे) गिरा दे तो (इस) अनुचित उपायके द्वारा अग्नि नहीं पा सकता है। ५१

तद्देशकालौ विधिवत्परीक्ष्य योगस्य मात्रामपि चाभ्युपायं।
बलाबले चात्मनि संप्रधार्य कार्यः प्रयत्नो न तु तद्विरुद्धः ॥५२॥

इसलिए देश और काल तथा योगकी मात्रा और उपायकी परीक्षा करके, अपने बलाबल (सामर्थ्य) का निश्चय करके प्रयत्न करना चाहिए, उनके विरुद्ध प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ५२

प्रग्राहकं यत्तु निमित्तमुक्तमुद्धन्यमाने हृदि तन्न सेव्यं।
एवं हि चित्तं प्रशमं न याति ※※※ना वह्निरिवेर्यमाणः ॥५३॥

जब हृदय (चित्त) उत्तेजित हो रहा हो तब प्रग्राहक (प्रेरित करनेवाले, उद्योगमें लगानेवाले) निमित्त (वस्तु) का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार चित्त शान्तिको प्राप्त नहीं होता है, जैसे हवासे प्रेरित होती अग्नि शान्त नहीं होती है। ५३

शमाय यत्स्यान्नियतं निमित्तं जातोद्धवे चेतसि तस्य कालः।
एवं हि चित्तं प्रशमं नियच्छेत्प्रदीप्यमानोऽग्निरिवोदकेन ॥५४॥

जब चित्त उत्तेजित हो रहा हो तब शान्तिकारक निमित्त (का सेवन) समयोचित है; क्योंकि इस प्रकार चित्त शान्त हो जाता है जैसे जलसे प्रज्वलित अग्नि शान्त होती है। ५४

शमावहं यन्नियतं निमित्तं सेव्यं न तच्चेतसि लीयमाने।
एवं हि भूयो लयमेति चित्तमनीर्यमाणोऽग्निरिवाल्पसारः ॥५५॥

जब चित्त आलस्यमें डूब रहा हो तब शान्तिकारक निमित्तका सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार चित्त और भी ठंढा पड़ जाता है, जैसे थोड़ी-सी आग सुलगाई नहीं जानेसे बुझ जाती है। ५५

प्रग्राहकं यन्नियतं निमित्तं लयं गते चेतसि तस्य कालः।
क्रियासमर्थं हि मनस्तथा स्यान्मन्दायमानोऽग्निरिवेन्धनेन ॥५६

जब चित्त आलस्य में डूब रहा हो तब प्रग्राहक (प्रेरक) निमित्त (का सेवन) समयोचित है; क्योंकि इससे चित्त कार्य करनेमें समर्थ

५३—* * * ना = 'प्रवायुना' ? 'प्र' पूर्वक 'वा' के लिये देखिये 'प्रवात्सु' सौ० १६।१० ग। निमित्त = भावना की वस्तु, आकार।

होता है, जैसे कि जलावनके पड़नेसे बुझती हुई अग्नि (सुलगती है)। ५६

औपेक्षिकं नापि निमित्तमिष्टं लयं गते चेतसि सोद्धवे वा।
एवं हि तीव्रं जनयेदनर्थमुपेक्षितो व्याधिरिवातुरस्य॥ ५७॥

जब चित्त अलसा रहा हो या उत्तेजित हो रहा हो तब उपेक्षा उत्पन्न करनेवाला निमित्त अभीष्ट नहीं है; क्योंकि इससे बड़ा अनर्थ होता है, जैसे रोगीके रोगकी अवहेलना करनेसे बड़ा अनिष्ट होता है। ५७

यत्स्यादुपेक्षानियतं निमित्तं साम्यं गते चेतसि तस्य कालः।
एवं हि कृत्याय भवेत्प्रयोगो रथो विधेयाश्व इव प्रयातः॥५८॥

जब चित्त साम्य अवस्थाको प्राप्त हुआ हो तब उपेक्षा उत्पन्न करनेवाला निमित्त समयोचित है; क्योंकि इस प्रकार प्रयोग करनेसे सफलता मिलती है, जैसे विनीत अश्वोंवाले रथके चलनेसे (अभीष्ट स्थानपर पहुँचते हैं।)। ५८

रागोद्धवव्याकुलितेऽपि चित्ते मैत्रोपसंहारविधिर्न कार्यः।
रागात्मको मुह्यति मैत्रया हि स्नेहं कफक्षोभ इवोपयुज्य॥५९॥

चित्त जब रागकी उत्तेजनासे व्याकुल हो तब मैत्री-भावनाका उपचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि रागात्मक (प्रकृतिका) मनुष्य मैत्री-भावनाके द्वारा मूढ़ताको प्राप्त होता है, जैसे कफ का प्रकोप होने पर (तेल आदि) स्निग्ध पदार्थका उपयोग करके मनुष्य मूर्छित होता है। ५९

रागोद्धते चेतसि धैर्यमेत्य निषेवितव्यं त्वशुभं निमित्तं।
रागात्मको ह्येवमुपैति शर्म कफात्मको रूक्षमिवोपयुज्य॥६०॥

चित्त जब रागसे उत्तेजित हो तब धैर्यपूर्वक अशुभ निमित्तका

सेवन करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार रागात्मक (प्रकृतिका) मनुष्य शान्ति लाभ करता है, जैसे कफात्मक (प्रकृतिका) मनुष्य रूखे पदार्थका उपयोग करके शान्ति प्राप्त करता है। ६०

व्यापाददोषेण मनस्युदीर्णे न सेवितव्यं त्वशुभं निमित्तं।
द्वेषात्मकस्य ह्यशुभा वधाय पित्तात्मनस्तीक्ष्ण इवोपचारः ॥६१॥

चित्त जब व्यापाद (द्वेष) रूपी दोषसे क्षुब्ध हो तब अशुभ निमित्तका सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि द्वेषात्मक मनुष्यके लिए अशुभका सेवन वैसे ही घातक होता है, जैसे कि पित्तात्मकके लिए तीक्ष्ण (तीखे पदार्थका) उपचार। ६१

व्यापाददोषक्षुभिते तु चित्ते सेव्या स्वपक्षोपनयेन मैत्री।
द्वेषात्मनो हि प्रशमाय मैत्री पित्तात्मनः शीत इवोपचारः ॥६२॥

व्यापादरूपी दोषसे चित्तके क्षुब्ध होनेपर (अपने मनमें सबको) अपनाकर मैत्री (-भावना) का सेवन करना चाहिए; क्योंकि द्वेषात्मक मनुष्यकेलिए मैत्री-भावना वैसे ही शान्ति-दायक होती है, जैसे कि पित्तात्मकके लिए ठण्ढा उपचार। ६२

मोहानुबद्धे मनसः प्रचारे मैत्राशुभा चैव भवत्ययोगः।
ताभ्यां हि संमोहमुपैति भूयो वाय्वात्मको रूक्षमिवोपनीय ॥६३॥

चित्तका व्यापार मोह (मूढ़ता) से युक्त होनेपर मैत्री और अशुभ का चिन्तन उपयुक्त नहीं होता है; क्योंकि इन दोनों (के चिन्तन) से और भी मोह होता है, जैसे वायुसे पीड़ित रहनेवाला मनुष्य रूखे पदार्थका सेवनकर और भी मूर्च्छित होता है। ६३

मोहात्मिकायां मनसः प्रवृत्तौ सेव्यस्त्विदंप्रत्ययताविहारः।
मूढे मनस्येष हि शान्तिमार्गो वाय्वात्मके स्निग्ध इवोपचारः॥६४॥

६०-६१ :—अशुभ की भावना = सब भोग बुरे हैं, ऐसी भावना।

मानसिक प्रवृत्ति मोह-युक्त होनेपर कार्य-कारण सिद्धान्तका चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि मोह-युक्त चित्तकेलिए यही शान्ति का मार्ग है, जैसे वायुसे पीड़ित रहनेवालेकेलिए स्निग्ध उपचार शान्ति-प्रद होता है। ६४

उल्कामुखस्थं हि यथा सुवर्णं सुवर्णकारो धमतीह काले।
काले परिप्रोक्षयते जलेन क्रमेण काले समुपेक्षते च ॥६५॥

जैसे सुनार इस संसारमें अंगीठीपर सोनेको समयपर धौंकता है, समयपर जलसे सिक्त करता है और क्रमसे समयपर उसको (चुपचाप) छोड़ देता है; ६५

दहेत्सुवर्णं हि धमन्नकाले जले क्षिपन्संशमयेदकाले।
न चापि सम्यक् परिपाकमेनं नयेदकाले समुपेक्षमाणः ॥६६॥

क्योंकि सोनेको असमयमें धौंककर जला डालेगा, असमयमें जल में डालकर ठंढाकर देगा और असमयमें (अलग) रखकर सम्यक् रूपसे परिपक नहीं कर सकेगा; ६६

संप्रग्रहस्य प्रशमस्य चैव तथैव काले समुपेक्षणस्य।
सम्यङ् निमित्तं मनसा त्ववेद्यं नाशो हि यत्नोऽप्यनुपायपूर्वः॥६७

उसी प्रकार (चित्तके) उद्योग शान्ति और समयपर उपेक्षाके लिए सम्यक् निमित्त (भावनाकी वस्तु) की मनसे पहचान करनी चाहिए; क्योंकि अनुचित उपायसे किया गया प्रयत्न नष्ट हो जाता है।" ६७

इत्येवमन्यायनिवर्तनं च न्यायं च तस्मै सुगतो बभाषे।
भूयश्च तत्तच्चरितं विदित्वा वितर्कहानाय विधीनुवाच ॥६८॥

इस प्रकार सुगतने अनुचितका परित्याग और उचित उपाय (का सेवन) बतलाया; और फिर नन्दने जो कुछ आचरण

किया था उसको जानकर उन्होंने वितर्कोंके विनाशका तरीका बतलाया। ६८

यथा भिषक् पित्तकफानिलानां य एव कोपं समुपैति दोषः।
शमाय तस्यैव विधिं विधत्ते व्यधत्त दोषेषु तथैव बुद्धः ॥६९॥

वैद्य जैसे कफ पित्त वायुमें से जिस किसी दोषका प्रकोप होता है उसकी शान्तिके लिए उपचार बतलाया है वैसे ही बुद्धने (राग-द्वेष आदि) दोषोंके सम्बन्धमें उपाय बतलाया। ६९

एकेन कल्पेन सचेन्न हन्यात्स्वभ्यस्तभावादशुभान्वितर्कान्।
ततो द्वितीयं क्रममारभेत न त्वेव हेयो गुणवान्प्रयोगः ॥७०॥

यदि किसी एक उपायसे अशुभ वितर्कोंका विनाश न हो सके तो किसी दूसरे उपायको शुरू करे; किंतु उत्तम उद्योगको कभी न छोड़े। ७०

अनादिकालोपचितात्मकत्वाद्बलीयसः क्लेशगणस्य चैव।
सम्यक्प्रयोगस्यच दुष्करत्वाच्छेत्तुं नशक्याःसहसा हि दोषाः॥७१॥

अनादि कालसे संचित होनेके कारण क्लेशोंका समूह बलवान् हो जाता है और सम्यक् रूपसे उद्योग करना कठिन है, इसलिए सहसा ही दोषोंको उन्मूलित (नष्ट) नहीं किया जा सकता।७१

अण्व्या यथाण्या विपुलाणिरन्या निर्वाह्यते तद्विदुषा नरेण।
तद्वत्तदेवाकुशलं निमित्तं क्षिपेन्निमित्तान्तरसेवनेन ॥७२॥

जैसे कुशल मनुष्य (कारीगर) छोटी पच्चल (कील) देकर बड़ी पच्चलको बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार दूसरे निमित्तका सेवन करके अकुशल निमित्तको निकाल फेंकना चाहिए। ७२

तथाप्यथाध्यात्मनवग्रहत्वान्नैवोपशाम्येदशुभो वितर्कः।
हेयः स तद्दोषपरीक्षणेन सश्वापदो मार्ग इवाध्वगेन ॥७३॥

इतना होने पर भी यदि हालमें अध्यात्म (-मार्ग) ग्रहण करनेके कारण अशुभ वितर्क (विचार) शान्त न हो तो उसकी बुराईकी जाँच करके उसका परित्याग करना चाहिए, जैसे कि यात्री हिंसक पशुओंसे सेवित मार्गको छोड़ देता है। ७३

यथा क्षुधार्तोऽपि विषेण पृक्तं जिजीविषुर्नेच्छति भोक्तुमन्नं।
तथैव दोषावहमित्यवेत्य जहाति विद्वानशुभं निमित्तं ॥७४॥

जैसे भूखा होनेपर भी मनुष्य विष मिला हुआ अन्न नहीं खाना चाहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य अशुभ निमित्तको दोषावह (दोष उत्पन्न करनेवाला) समझकर छोड़ देता है। ७४

न दोषतः पश्यति यो हि दोषं कस्तं ततो वारयितुं समर्थः।
गुणं गुणे पश्यति यश्च यत्र स वार्यमाणोऽपि ततः प्रयाति ॥७५॥

जो आदमी दोषको दोष नहीं समझता है उसको उससे कौन हटा सकता है और जो आदमी जिस गुणको गुण समझता है वह रोका जानेपर भी वहीं जाता है। ७५

व्यपत्रपन्ते हि कुलप्रसूता मनःप्रचारैरशुभैः प्रवृत्तैः।
कण्ठे मनस्वीव युवा वपुष्मानचाक्षुषैरप्रयतैर्विषक्तैः ॥७६॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य अपनी अशुभ मानसिक प्रवृत्तियोंसे लज्जित होते हैं; जैसे कि कोई मनस्वी और रूपवान् युवा अपने गलेमें लगे (लटकते) हुए अदर्शनीय एवं अपवित्र वस्तुओंसे लज्जाको प्राप्त होता है। ७६

निर्धूयमानास्त्वथ लेशतोऽपि तिष्ठेयुरेवाकुशला वितर्काः।
कार्यान्तरैरध्ययनक्रियाद्यैः सेव्यो विधिर्विस्मरणाय तेषां ॥७७॥

निवारण किये जाने पर (हटाये जाने पर) यदि लेशमात्र भी

अकुशल वितर्क (बुरे विचार) रह जायँ तो अध्ययन आदि दूसरे कार्योंके द्वारा उन्हें भुला देनेका उपाय करना चाहिए। ७७

स्वप्तव्यमप्येव विचक्षणेन कायक्लमो वापि निषेवितव्यः।
न त्वेव संचिन्त्यमसन्निमित्तं यत्रावसक्तस्य भवेदनर्थः ॥७८॥

समझदार आदमीको सो रहना चाहिए या किसी शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए; किन्तु कभी भी उस अकुशल निमित्तका चिन्तन नहीं करना चाहिए, जिसमें लीन होनेपर अनर्थ हो सकता है। ७८

यथा हि भीतो निशि तस्करेभ्यो द्वारं प्रियेभ्योऽपि न दातुमिच्छेत्
प्राज्ञस्तथा संहरति प्रयोगं समं शुभस्याप्यशुभस्य दोषैः ॥७९॥

जैसे चोरोंसे डरा हुआ मनुष्य रात्रि-कालमें अपने प्रिय जनोंके-लिए भी द्वार नहीं खोलता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य दोषों के डरसे शुभ और अशुभ (विचारों का प्रयोग (अभ्यास, प्रवेश) एक साथ रोक देता है। ७९

एवंप्रकारैरपि यद्युपायैर्निवार्यमाणा न पराङ्मुखाः स्युः।
ततो यथास्थूलनिबर्हणेन सुवर्णदोषा इव ते प्रहेयाः ॥८०॥

यदि ऐसे ऐसे उपायोंसे भी निवारण किये जानेपर वे विमुख न हों तो सोनेकी गन्दगियों (सुवर्ण-कणोंमें मिले हुए रज-कणों) के समान उन (दोषों, बुरे विचारों) की स्थूलताके अनुसार क्रमसे उन्हें छोड़ देना चाहिए। ८०

द्रुतप्रयाणप्रभृतींश्च तीव्रणात्कामप्रयोगात्परिखिद्यमानः।
यथा नरः संश्रयते तथैव प्राज्ञेन दोषेष्वपि वर्तितव्यं ॥८१॥

जैसे तीव्र कामसे पीड़ित मनुष्य तेजीसे टहलना आदि उपायों का आश्रय लेता है वैसे ही दोषोंके विषयमें भी समझदार आदमीको बरतना चाहिए। ८१

ते चेदलब्धप्रतिपक्षभावा नैवोपशाम्येयुरसद्वितर्काः ।
मुहूर्तमप्यप्रतिबध्यमाना गृहे भुजंगा इव नाधिवास्याः ॥८२॥

यदि उनके विरोधी भाव उत्पन्न न हो सकनेके कारण वे अकुशल वितर्क (बुरे विचार) शान्त न हों तो घरमें घुसे हुए सर्पोंके समान उन्हें क्षण भरकेलिए भी निर्विरोध नहीं ठहरने देना चाहिए। ८२

दन्तेऽपि दन्तं प्रणिधाय कामं ताल्वग्रमुत्पीड्य च जिह्वयापि ।
चित्तेन चित्तं परिगृह्य चापि कार्यः प्रयत्नो न तु तेऽनुवृत्ताः ८३

दाँत पर दाँत रखकर, जिह्वासे तालुके अग्रभागको उत्पीड़ित कर, और चित्तसे चित्तका निग्रह करके प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु उनके अनुकूल नहीं होना चाहिए (उनके आगे झुकना नहीं चाहिए)। ८३

किमत्र चित्रं यदि वीतमोहो वनं गतः स्वस्थमना न मुह्येत् ।
आक्षिप्यमाणो हृदि तन्निमित्तैर्न क्षोभ्यते यः स कृती स धीरः ८४

इसमें क्या आश्चर्य यदि मोह-रहित मनुष्य वनमें जाकर स्वस्थ-चित्त रहे और मोहमें न पड़े ? (दोषोंके कारणरूप अकुशल) निमित्तों द्वारा हृदयमें पीड़ित होता हुआ जो क्षुब्ध नहीं होता है, वही धन्य है वही धीर है। ८४

तदार्यसत्याधिगमाय पूर्वं विशोधयानेन नयेन मार्गं ।
यात्रागतः शत्रुविनिग्रहार्थं राजेव लक्ष्मीमजितां जिगीषन् ॥८५॥

इसलिए आर्य सत्यकी प्राप्तिके लिए इस विधिसे पहले मार्गको

८३—पा० 'ऽनुवर्त्याः' ?

८४—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः"—कुमारसंभव ।

शुद्ध करो; जैसे शत्रुके निग्रहार्थ यात्रापर जानेवाला राजा अविजित लक्ष्मीको जीतनेकी इच्छासे पहले रास्ता साफ करवाता है। ८५

एतान्यरण्यान्यभितः शिवानि योगानुकूलान्यजनेरितानि ।
कायस्य कृत्वा प्रविवेकमात्रं क्लेशप्रहाणाय भजस्व मार्गं ॥८६॥

ये मङ्गलमय योगानुकूल विजन वन चारों ओर फैले हुए हैं। शरीरको एकान्तमें करके मार्ग (उचित उपाय) का सेवन करो। ८६

कौण्डिन्यनन्दकृमिलानिरुद्धास्तिष्योपसेनौ विमलोऽथ राधः ।
बाष्पोत्तरौ धौतकिमोहराजौ कात्यायनद्रव्यपिलिन्दवत्साः ।८७

कौण्डिन्य, नन्द, कृमिल, अनिरुद्ध, तिष्य, उपसेन, विमल, राध, बाष्प, उत्तर, धौतकि, मोहराज, कात्यायन, द्रव्य, पिलिन्दवत्स, ८७

भद्दालिभद्रायणसर्पदाससुभूतिगोदत्तसुजातवत्साः ।
संग्रामजिद्भद्रजिदश्वजिच्च श्रोणश्च शोणश्च स कोटिकर्णः ॥८८

भद्दालि, भद्रायण, सर्पदास, सुभूति, गोदत्त, सुजात, वत्स, संग्राम-जित्, भद्रजित्, अश्वजित्, श्रोण, शोण, कोटिकर्ण, । ८८

क्षेमाजितो नन्दकनन्दमाता वुपालिवागीशयशोयशोदाः ।
महाह्वयो वल्कलिराष्ट्रपालौ सुदर्शनस्वागतमेधिकाश्च ॥८९॥

८६—पा० 'प्रविवेकमादौ' ? देखिये सौ० १४।४६ ।

८९–डा० टामस 'क्षेमाजितौ नन्दकनन्दमातावुपालि'० पाठ सुझाते हैं। डा० जौन्स्टन 'नन्दकनन्दमाते' पाठ अच्छा समझते हैं और नन्दक-माता (=उत्तरा) तथा नन्द-माता अर्थ करते हैं। यदि दूसरे पादके शुरूमें पाठ-परिवर्तन नहीं किया जाय तो 'वुपालि' को 'उपालि' का विकृत रूप समझना होगा। 'क्षेमाजितः' यदि किसी व्यक्तिका नाम समझा जाय तो इसमें भी पाठ-परिवर्तन करने की जरूरत नहीं होगी। डा० जौन्स्टन के अनुसार क्षेमा उत्तरा और महाप्रजापती गौतमी तीन विख्यात भिक्षुणियाँ थीं और अश्वघोषने इन तीनोंका ही यहाँ उल्लेख किया है।

क्षेमा, अजित, नन्दक, नन्दमाता (महाप्रजापती गौतमी), उपालि, वागीश, यश, यशोद, महाह्वय (महानाम), वल्कलि, राष्ट्रपाल, सुदर्शन, स्वागत, मेधिक, ८६

स कप्फिनः काश्यप औरुविल्वो महामहाकाश्यपतिष्यनन्दाः।
पूर्णश्च पूर्णश्च स पूर्णकश्च शोनापरान्तश्च स पूर्ण एव ॥९०॥

कप्फिन, औरुविल्व काश्यप, महामहाकाश्यप, तिष्य, नन्द, पूर्ण, पूर्ण, पूर्णक, पूर्ण, शोणापरान्त, ९०

शारद्वतीपुत्रसुबाहुचुन्दाः कोन्देयकाप्यभृगुकुण्ठधानाः।
सशैवलौ रेवतकौष्ठिलौ च मौद्गल्यगोत्रश्च गवांपतिश्च ॥९१॥

शारद्वतीपुत्र, सुबाहु, चुन्द, कोन्देय, काप्य, भृगु, कुण्ठधान, शैवल, रेवत, कौष्ठिल, मौद्गल्यायन और गवांपतिने। ९१

यं विक्रमं योगविधावकुर्वंस्तमेव शीघ्रं विधिवत्कुरुष्व।
ततः पदं प्राप्स्यसि तैरवाप्तं सुखावृतैस्त्वं नियतं यशश्च ॥९२॥

योगाभ्यासमें जो पराक्रम किया था वही तुम भी शीघ्र विधिपूर्वक करो और तब निश्चय ही वह पद और यश पाओगे जो कि इन (उपर्युक्त) धन्य व्यक्तियोंने पाया था। ९२

द्रव्यं यथा स्यात्कटुकं रसेन तच्चोपयुक्तं मधुरं विपाके।
तथैव वीर्यं कटुकं श्रमेण तस्यार्थसिद्ध्यै मधुरो विपाकः ॥९३॥

जिस प्रकार द्रव्य-विशेषका रस कड़वा होता है और उसका उपयोग करने पर मीठा फल मिलता है, उसी प्रकार थकावटके कारण उद्योग कटु (कष्टप्रद और अप्रिय) होता है, किंतु लक्ष्यकी सिद्धि हो जानेपर मीठा फल मिलता है। ९३

९२—'सुखावृतैः' पाठ अनिश्चित है।

वीर्यं परं कार्यकृतौ हि मूलं वीर्यादृते काचन नास्ति सिद्धिः ।
उदेति वीर्यादिह सर्वसंपन्निर्वीर्यता चेत्सकलश्च पाप्मा ॥६४॥

कार्यकी सफलताका मूल कारण है उत्तम उद्योग, उद्योगके विना कोई भी सिद्धि नहीं होती है, उद्योगसे ही सब समृद्धियोंका उदय होता है और जहाँ उद्योग नहीं है वहाँ पाप ही पाप है । ६४

अलब्धस्यालाभो नियतमुपलब्धस्य विगम-
स्तथैवात्मावज्ञा कृपणमधिकेभ्यः परिभवः ।
तमो निस्तेजस्त्वं श्रुतिनियमतुष्टिव्युपरमो
नृणां निर्वीर्याणां भवति विनिपातश्च भवति ॥६५॥

अनुद्योगी मनुष्योंको निश्चय ही अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं होती है और उनकी प्राप्त वस्तुओंका भी नाश हो जाता है, उनका आत्म-सम्मान चला जाता है, वे दीन हीन हो जाते हैं, बलवानोंसे अपमानित होते हैं, मानसिक अन्धकारमें रहते हैं, उनका तेज क्षीण हो जाता है, विद्या संयम और संतोष नष्ट हो जाता है, (सब प्रकारसे) उनका पतन होता है । ६५

नयं श्रुत्वा शक्तो यदयमभिवृद्धिं न लभते
परं धर्मं ज्ञात्वा यदुपरि निवासं न लभते ।
गृहं त्यक्त्वा मुक्तौ यदयमुपशान्तिं न लभते ।
निमित्तं कौसीद्यं भवति पुरुषस्यात्र न रिपुः ॥६६॥

शक्तिशाली मनुष्य उपाय सुनकर अपनी उन्नति जो नहीं करता है, उत्तम धर्म सुनकर ऊपरका निवास (उत्तम पद) जो नहीं प्राप्त करता है और मुक्तिकेलिए घर छोड़कर शान्ति लाभ जो नहीं करता है, इसका कारण उसका अपना ही आलस्य है, न कि (कोई बाहरी) शत्रु । ६६

६६—पा० 'पुरुषस्यान्तररिपुः' ।

अनिक्षिप्तोत्साहो यदि खनति गां वारि लभते।
प्रसक्तं व्यामथ्नन् ज्वलनमरणिभ्यां जनयति।
प्रयुक्ता योगे तु ध्रुवमुपलभन्ते श्रमफलं
द्रुतं नित्यं यान्त्यो गिरिमपि हि भिन्दन्ति सरितः ॥६७॥

उत्साह खाये विना पृथ्वीको खोदनेवाला मनुष्य जल प्राप्त करता है, लकड़ियोंको लगातार रगड़नेवाला आदमी अग्नि उत्पन्न करता है, योगाभ्यासी पुरुष अवश्य अपने परिश्रमका फल प्राप्त करते हैं और निरन्तर द्रुतगतिसे बहनेवाली नदियाँ पर्वतको भी फोड़ती हैं। ६७

कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नोति सस्यश्रियं
यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति।
शत्रूणामवधूय वीर्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रश्रियं
तद्वीर्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्ये हि सर्वर्द्धयः ॥६८॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये आर्यसत्यव्याख्यानो नाम षोडशः सर्गः।

भूमिको जोतकर और अत्यन्त परिश्रमपूर्वक (खेतकी) रखवालीकर मनुष्य उत्तम सस्य प्राप्त करता है, प्रयत्नपूर्वक समुद्रके जलमें प्रविष्ट होकर वह उत्तम रत्न-राशिसे क्रीड़ा करता है, तीरोंसे शत्रुओंके उद्योगको निष्फलकर वह राज-लक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः शान्ति प्राप्त करनेकेलिए उद्योग करो; क्योंकि उद्योगमें ही सब समृद्धियोंका निवास है। ६८

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "आर्य-सत्य-व्याख्यान"
नामक षोडश सर्ग समाप्त।

सप्तदश सर्ग

अमृतकी प्राप्ति

अथैवमादेशिततत्त्वमार्गो नन्दस्तदा प्राप्तविमोक्षमार्गः।
सर्वेण भावेन गुरौ प्रणम्य क्लेशप्रहाणाय वनं जगाम ॥१॥

जब नन्दको इस प्रकार तत्त्व-मार्गका उपदेश किया गया और जब उसने मोक्षका मार्ग प्राप्त कर लिया तब सर्वभावसे गुरुको प्रणाम कर वह जंगल चला गया। १

तत्रावकाशं मृदुनीलशष्पं ददर्श शान्तं तरुषण्डवन्तं।
निःशब्दया निम्नगयोपगूढं वैडूर्यनीलोदकया वहन्त्या ॥२॥

वहाँ कोमल और श्यामल दूबसे आच्छादित तथा वृक्षोंसे युक्त एक शान्त स्थान देखा, जो वैदूर्यके समान नीले जलवाली, चुपचाप बहती नदीसे आलिङ्गित हो रहा था। २

स पादयोस्तत्र विधाय शौचं शुचौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले।
मोक्षाय बद्ध्वा व्यवसायकक्षां पर्यङ्कमङ्कावहितं बबन्ध ॥३॥

वहाँ वह अपने पाँवोंको धोकर सुन्दर पवित्र और मङ्गलमय वृक्ष-मूलमें मोक्ष-प्राप्तिका निश्चय कर और पर्यङ्क आसन बाँधकर बैठ गया। ३

ऋजुं समग्रं प्रणिधाय कायं काये स्मृतिं चाभिमुखीं विधाय।
सर्वेन्द्रियाण्यात्मनि संनिधाय स तत्र योगं प्रयतः प्रपेदे ॥४॥

अपने समग्र (ऊपरी) शरीरको सीधा कर, स्मृतिको शरीरमें

अभिमुखी (संलग्न केन्द्रित) कर और सब इन्द्रियोंको अपनेमें निरुद्ध कर, वह पवित्रात्मा वहाँ योगारूढ़ हुआ । ४

तत: स तत्त्वं निखिलं चिकीर्षुर्मोक्षानुकूलांश्च विधींश्चिकीर्षन्
ज्ञानेन लोक्येन शमेन चैव चचार चेत:परिकर्मभूमौ ।।५।।

तब वह सम्पूर्ण तत्त्वको प्राप्त करनेकी इच्छासे और मोक्षके अनुकूल उपायोंको करनेकी इच्छासे ज्ञान और शान्तिके द्वारा चित्तकी कर्म-भूमिमें विचरण करने लगा । ५

संधाय धैर्यं प्रणिधाय वीर्यं व्यपोह्य सक्तिं परिगृह्य शक्तिं ।
प्रशान्तचेता नियमस्थचेता: स्वस्थस्ततोऽभूद्विषयेष्वनास्थः।।६

धैर्यकी रक्षा कर, उद्योगका सहारा लेकर, आसक्तिका विनाश कर और शक्तिका संग्रह कर, वह शान्तचित्त संयतचित्त और स्वस्थ (विकार-रहित) होकर विषयोंसे विरक्त हो गया । ६

आतप्तबुद्धेः प्रहितात्मनोऽपि स्वभ्यस्तभावादथ कामसंज्ञा ।
पर्याकुलं तस्य मनश्चकार प्रावृट्सु विद्युज्जलमागतेव ।।७।।

यद्यपि उसकी बुद्धि प्रखर थी और उसका आत्म-निश्चय दृढ़ था, तो भी अतिशय अभ्यासके कारण काम-भावना (काम-वासना) ने उसके मन को व्याकुल कर दिया, जैसे वर्षा ऋतुमें बिजली आकर पानीको क्षुब्ध कर देती है । ७

स पर्यवस्थानमवेत्य सद्यश्चिक्षेप तां धर्मविघातकर्त्रीं ।
प्रियामपि क्रोधपरीतचेता नारीमिवोद्वृत्तगुणां मनस्वी ।।८।।

इस विपरीत मानसिक अवस्थाको समझकर उसने धर्ममें बाधा

५—'लोक्येन' पाठ अनिश्चित है। इसके स्थान में 'शीलेन' हो सकता है।

डालनेवाली उस काम-भावनाको दूर हटाया, जैसे मनस्वी व्यक्ति क्रुद्ध होकर सदाचारसे च्युत हुई प्यारी स्त्रीको भी त्याग देता है। ८

आरब्धवीर्यस्य मनःशमाय भूयस्तु तस्याकुशलो वितर्कः।
व्याधिप्रणाशाय निविष्टबुद्धेरुपद्रवो घोर इवाजगाम ॥९॥

मानसिक शान्तिके लिए उद्योग आरम्भ करने पर उसके मनमें पुनः अकुशल वितर्क (बुरे विचार) का उदय हुआ, जैसे रोग-विनाशके लिए निश्चय किये हुएके ऊपर घोर संकट आवे। ९

स तद्विघाताय निमित्तमन्यद्योगानुकूलं कुशलं प्रपेदे।
आर्तायनं क्षीणबलो बलस्थं निरस्यमानो बलिनारिणेव ॥१०

उस (वितर्क) के विनाशके लिए उसने योगके अनुकूल दूसरे कुशल निमित्तका सहारा लिया, जैसे बलवान् शत्रुसे पराजित होता हुआ मनुष्य अपनी शक्तिके क्षीण होने पर पीड़ितोंको आश्रय देनेवाले किसी शक्तिशाली मनुष्यकी शरणमें जाता है।१०

पुरं विधायानुविधाय दण्डं मित्राणि संगृह्य रिपून्विगृह्य।
राजा यथाप्नोति हि गामपूर्वां नीतिर्मुमुक्षोरपि सैव योगे ॥११

राजा जैसे नगरका निर्माण कर, दण्डका विधान कर, मित्रोंका संग्रह कर और शत्रुओंका निग्रह कर अपूर्व भूमिको प्राप्त करता है उसी प्रकार मुक्ति चाहनेवाला भी योग-विधिमें उसी नीतिका अवलम्बन करता है। ११

विमोक्षकामस्य हि योगिनोऽपि मनः पुरं ज्ञानविधिश्च दण्डः।
गुणाश्च मित्राण्यरयश्च दोषा भूमिर्विमुक्तिर्यतते यदर्थं ॥१२॥

मोक्ष चाहनेवाले योगीका मन नगर है, ज्ञान-विधि दण्डकी व्यवस्था है, सद्गुण मित्र हैं, दोष शत्रु हैं और मुक्ति वह भूमि है जिसकेलिए वह यत्न करता है। १२

स दुःखजालान्महतो मुमुक्षुर्विमोक्षमार्गाधिगमे विविक्षुः।
पन्थानमार्यं परमं दिदृक्षुः शमं ययौ किंचिदुपात्तचक्षुः ॥१३॥

महा-दुःख-जालसे मुक्त होनेकी इच्छासे, मोक्ष-मार्गमें प्रविष्ट होनेकी इच्छासे और उत्तम आर्य मार्गका दर्शन करनेकी इच्छासे वह ज्ञान-लाभ करके शान्तिको प्राप्त हुआ। १३

यः स्यान्निकेतस्तमसोऽनिकेतः श्रुत्वापि तत्त्वं स भवेत्प्रमत्तः।
यस्मात्तु मोक्षाय स पात्रभूतस्तस्मान्मनः स्वात्मनि संजहार १४

जो गृह-विहीन भिक्षु अज्ञानका घर होगा वह तत्त्वको सुनकर भी असावधान ही रहेगा। किन्तु वह तो मोक्षका पात्र हो गया था, इसलिए उसने अपने मनका अपनेमें ही संहार (विनाश, निग्रह) कर लिया। १४

संभारतः प्रत्ययतः स्वभावादास्वादतो दोषविशेषतश्च।
अथात्मवान्निःसरणात्मतश्च धर्मेषु चक्रे विधिवत्परीक्षां ॥१५॥

तब मुक्ति-मार्गमें लगे हुए उस संयतात्माने संभार प्रत्यय (कारण) स्वभाव आस्वाद और दोष-विशेषकी दृष्टिसे धर्मों (पदार्थों) की विधिवत् परीक्षा की। १५

स रूपिणं कृत्स्नमरूपिणं च सारं दिदृक्षुर्विचिकाय कायं।
अथाशुचिं दुःखमनित्यमस्वं निरात्मकं चैव चिकाय कायं ॥१६

उसने रूपवान् और अरूपवान् सम्पूर्ण सार देखने की इच्छा से शरीर का विश्लेषण किया और इसको अपवित्र दुःखमय अनित्य शून्य और अनात्म समझा। १६

अनित्यतस्तत्र हि शून्यतश्च निरात्मतो दुःखत एव चापि।
मार्गप्रवेकेण स लौकिकेन क्लेशद्रुमं संचलयांचकार ॥१७॥

१५—पा० 'निःसरणात्मकश्च'।

शरीरको अनित्य शून्य अनात्म और दुःखमय देखकर उसने लौकिक उत्तम मार्गद्वारा क्लेशोंके वृक्षको हिला दिया। १७

यस्माद्भूत्वा भवतीह सर्वं भूत्वा च भूयो न भवत्यवश्यं।
सहेतुकं च क्षयिहेतुमच्च तस्मादनित्यं जगदित्यविन्दत् ॥१८॥

क्योंकि इस संसारमें अवश्य ही जो पहले नहीं था वह होता है और जो हुआ है वह फिर अभावको प्राप्त होता है और सब कुछ हेतु-युक्त है और यह हेतु (कारण) विनाशवान् है, इसलिए उसने जगत्को अनित्य समझा। १८

यतः प्रसूतस्य च कर्मयोगः प्रसज्यते बन्धविघातहेतुः।
दुःखप्रतीकारविधौ सुखाख्ये ततो भवं दुःखमिति व्यपश्यत् १९

क्योंकि जिसका जन्म होता है वह वध-बन्धनके हेतुरूप कर्मों के सम्पर्कमें निरन्तर रहता है और क्योंकि दुःख-प्रतीकारके उपाय को ही सुख समझ लिया जाता है, इसलिए उसने संसारको दुःखमय देखा। १९

यतश्च संस्कारगतं विविक्तं न कारकः कश्चन वेदको वा।
सामग्र्यतः संभवति प्रवृत्तिः शून्यं ततो लोकमिमं ददर्श ॥२०॥

क्योंकि व्यक्ति संस्कारोंका बना हुआ है, कर्ता या ज्ञाता कोई नहीं है और क्योंकि (हेतु-प्रत्ययों की) सामग्रीसे प्रवृत्ति होती है इसलिए उसने इस संसारको शून्य समझा। २०

यस्मान्निरीहं जगदस्वतन्त्रं नैश्वर्यमेकः कुरुते क्रियासु।
तत्तत्प्रतीत्य प्रभवन्ति भावा निरात्मकं तेन विवेद लोकं ॥२१॥

क्योंकि संसार निरीह और परतन्त्र है, कार्योंका कोई ईश्वर

२०—'वेदक' का दूसरा अर्थ होगा सुख-दुःख अनुभव करनेवाला।

नहीं है, और क्योंकि कारणके आश्रयसे ही सबकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उसने संसारको अनात्म समझा। २१

ततः स वातं व्यजनादिवोष्णे काष्ठाश्रितं निर्मथनादिवाग्निं।
अन्तःक्षितिस्थं खननादिवाम्भो लोकोत्तरं वर्त्म दुरापमाप॥२२॥

जैसे कोई गर्मीमें व्यजन डुलाकर हवा निकाले, या काठ में रहने वाली अग्नि को रगड़कर निकाले या पृथ्वीके भीतरसे पानी खोद निकाले, वैसे ही उसने (उद्योगपूर्वक) अलौकिक दुर्लभ मार्ग प्राप्त किया। २२

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्म बद्ध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ २३

सच्चा ज्ञानरूपी धनुष लेकर, स्मृतिरूपी कवच पहनकर और विशुद्ध शीलव्रतरूपी वाहनपर आरूढ़ होकर वह चित्तके रणाङ्गन में स्थित क्लेशरूपी शत्रुओंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे विजय प्राप्त करने के लिए खड़ा हुआ। २३

ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥२४॥

तब (सात) बोधि-अङ्गरूपी तेज शस्त्र लेकर, सम्यक् उद्योगरूपी वाहनपर सवार होकर, (आर्य अष्टाङ्गिक) मार्गके (आठ) अङ्गरूपी हाथियोंकी सेनाके साथ उसने धीरे धीरे क्लेशोंकी सेनामें प्रवेश किया। २४

स स्मृत्युपस्थानमयैः पृषत्कैः शत्रून्विपर्यासमयान् क्षणेन।
दुःखस्य हेतूंश्चतुरश्चतुर्भिः स्वैः स्वैः प्रचारायतनैर्ददार ॥२५॥

२४—बोधि-अङ्ग = स्मृति, धर्म, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा।

उसने चार स्मृति-उपस्थानरूपी तीरोंसे, जो अपने अपने क्षेत्र में चल रहे थे, दुःखके कारण-स्वरूप चार मिथ्याज्ञानरूपी शत्रुओं को क्षण भरमें विदीर्ण कर डाला। २५

आर्यैर्बलैः पञ्चभिरेव पञ्च चेतःखिलान्यप्रतिमैर्बभञ्ज।
मिथ्याङ्गनागांश्च तथाङ्गनागैर्विनिर्दुधावाष्टभिरेव सोऽष्टौ ॥२६॥

उसने अनुपम पाँच आर्य बलोंके द्वारा पाँच मानसिक खिलों (कीलों, वाधाओं) को तोड़ डाला और (आर्य मार्ग के) आठ अङ्ग-रूपी हाथियों द्वारा आठ मिथ्या अङ्गरूपी हाथियोंको दूर भगाया। २६

अथात्मदृष्टिं सकलां विधूय चतुर्षु सत्येष्वकथंकथः सन्।
विशुद्धशीलव्रतदृष्टधर्मा धर्मस्य पूर्वां फलभूमिमाप ॥२७॥

तब आत्म-दृष्टिको सर्वथा उन्मूलित कर, चार सत्योंके विषय में संशय-रहित होकर और विशुद्ध शील-व्रतके द्वारा धर्मका दर्शन कर उसने धर्मकी प्रथम फल-भूमिको प्राप्त किया। २७

२५—स्मृति-उपस्थान = कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना। शरीर और चित्तकी वर्तमान अवस्था को जानना और उसके प्रति जागरूक रहना। विशेषके लिए देखिये सतिपट्ठान सुत्त।

२६—पञ्च बल = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। पाँच चेतः-खिलकेलिए देखिये सङ्गीति परियाय सुत्त (दीघ निकाय) तथा चेतोखिल सुत्तन्त (मज्झिम निकाय)।

आर्य मार्गके आठ अङ्ग = सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाणी आदि।

मिथ्या मार्गके आठ अङ्ग = मिथ्या दृष्टि, मिथ्या वाणी आदि।

२७—प्रथम फल = स्रोत-आपत्ति, निर्वाण-मार्गपर आरूढ़ होना। तीन संयोजनोंके क्षीण होनेसे प्रथम फलकी प्राप्ति होती है।

स दर्शनादार्यचतुष्टयस्य क्लेशैकदेशस्य च विप्रयोगात् ।
प्रत्यात्मिकाच्चापि विशेषलाभात्प्रत्यक्षतो ज्ञानिसुखस्य चैव ।२८

उसने आर्य-चतुष्टयका दर्शन किया, क्लेशोंके एक अंशका परित्याग किया, आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया और ज्ञानियोंको होने वाले सुखका साक्षात्कार किया। २८

दार्ढ्यात्प्रसादस्य धृतेः स्थिरत्वात्सत्येष्वसंमूढतया चतुर्षु ।
शीलस्य चाच्छिद्रतयोत्तमस्य निःसंशयो धर्मविधौ बभूव ।२९।

उसकी श्रद्धा दृढ़ हुई, धृति स्थिर हुई, चार सत्योंके बारेमें उसका अज्ञान दूर हुआ, उसका उत्तम शील छिद्र-रहित हुआ; अतः वह धर्माचरणमें संशय-रहित हुआ। २९

कुदृष्टिजालेन स विप्रयुक्तो लोकं तथाभूतमवेक्षमाणः ।
ज्ञानाश्रयां प्रीतिमुपाजगाम भूयः प्रसादं च गुरावियाय ॥३०॥

कुदृष्टियोंके जालसे मुक्त होकर, लोकको वास्तविक अवस्थामें देखता हुआ वह ज्ञानके आश्रयसे होने वाली प्रीति (सुख) को प्राप्त हुआ और गुरुके प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ गई। ३०

यो हि प्रवृत्तिं नियतामवैति नैवान्यहेतोरिह नाप्यहेतोः ।
प्रतीत्य तत्तत्समवैति तत्तत्स नैष्ठिकं पश्यति धर्ममार्यं ॥३१॥

प्रवृत्तिका नियमन (व्यवस्था) किसी दूसरे (मिथ्या) कारणसे या विना कारणके ही नहीं होता, किंतु (उचित) कारणके आश्रयसे ही सब कुछ होता है, ऐसा जो समझता है वह नैष्ठिक आर्य-धर्मको देखता है। ३१

शान्तं शिवं निर्जरसं विरागं निःश्रेयसं पश्यति यश्च धर्मं ।
तस्योपदेष्टारमथार्यवर्यं स प्रेक्षते बुद्धमवाप्तचक्षुः ॥३२॥

जो शान्त मङ्गलमय जरा-रहित राग-रहित और परम कल्याण-

कारी धर्मको तथा उसके उपदेश करनेवाले आर्य-श्रेष्ठको देखता है, वह ज्ञान प्राप्त करता है और बुद्धको देखता है। ३२

यथोपदेशेन शिवेन मुक्तो रोगादरोगो भिषजं कृतज्ञः।
अनुस्मरन्पश्यति चित्तदृष्ट्या मैत्र्या च शास्त्रज्ञतया च तुष्टः ३३

जिस प्रकार (वैद्यके) सत्परामर्शसे रोग-मुक्त हुआ स्वस्थ मनुष्य वैद्यके प्रति कृतज्ञ होकर उसको स्मरण करता हुआ अपनी चित्त-दृष्टि से देखता है और उसकी मैत्री एवं शास्त्र-ज्ञानसे संतुष्ट होता है, ३३

आर्येण मार्गेण तथैव मुक्तस्तथागतं तत्त्वविदार्यतत्त्वः।
अनुस्मरन्पश्यति कायसाक्षी मैत्र्या च सर्वज्ञतया च तुष्टः ॥३४॥

उसी प्रकार आर्य मार्गसे चलकर मुक्त हुआ तत्त्वज्ञानी आर्य-तत्त्व वाला काय-साक्षी (कायासे ही परम सत्यका साक्षात्कार करनेवाला) तथागतको स्मरण करता हुआ (अपनी चित्त-दृष्टिसे) देखता है और उनकी मैत्री एवं सर्वज्ञतासे संतुष्ट होता है। ३४

स नाशकैर्दृष्टिगतैर्विमुक्तः पर्यन्तमालोक्य पुनर्भवस्य।
भक्त्वा घृणां क्लेशविजृम्भितेषु मृत्योर्न तत्रास न दुर्गतिभ्यः ३५

विनाशक विचारों (धाराओं) से मुक्त होकर, पुनर्जन्मका अन्त देखकर और क्लेशोंसे घृणा करके वह मृत्यु या दुर्गतिसे भयभीत नहीं हुआ। ३५

त्वक्स्नायुमेदोरुधिरास्थिमांसकेशादिनामेध्यगणेन पूर्णं।
ततः स कायं समवेक्षमाणः सारं विचिन्त्याणवपि नोपलेभे ३६

३४—काय-साक्षी = 'कायेन साक्षात्करणात्' – अभिधर्म कोश ६: ४३।
'कायासे ही परम सत्यका साक्षात्कार करता है'— मज्झिम निकाय, कीटागिरि सूत्र, पृष्ठ २७८।

उसने त्वचा, स्नायु, चर्बी, रुधिर, हड्डी, मांस, केश आदि अपवित्र वस्तुओंसे भरे हुए शरीरको अच्छी तरह देखा और चिन्तन करनेपर थोड़ा-सा भी सार उसमें नहीं पाया। ३६

स कामरागप्रतिघौ स्थिरात्मा तेनैव योगेन तनू चकार।
कृत्वा महोरस्कतनुस्तनू तौ प्राप द्वितीयं फलमार्यधर्मे ॥३७॥

उस स्थिरात्माने योग द्वारा कामराग (काम-इच्छा) और प्रतिघ (प्रतिहिंसा) को क्षीण किया और इन दोनोंको क्षीण करके उस विशाल वक्षस्थलवालेने आर्य धर्मका दूसरा फल पाया। ३७

स लोभचापं परिकल्पबाणं रागं महावैरिणमल्पशेषं।
कायस्वभावाधिगतैर्बिभेद योगायुधास्त्रैरशुभापृषत्कैः ॥३८॥

उसने लोभरूपी धनुषवाले सङ्कल्परूपी तीरवाले अल्पावशिष्ट रागनामक महाशत्रुको शरीरके स्वभाव (पर चिन्तन करने) से प्राप्त हुए अशुभ-भावना रूपी तीरों तथा यौगिक अस्त्र-शस्त्रोंसे विदीर्ण किया। ३८

द्वेषायुधं क्रोधविकीर्णबाणं व्यापादमन्तःप्रसवं सपत्नं।
मैत्रीपृषत्कैर्धृतितूणसंस्थैः क्षमाधनुर्ज्याविसृतैर्जघान ॥३९॥

द्वेष रूपी शस्त्रवाले, क्रोधरूपी बिखरे बाण वाले व्यापाद (द्रोह, प्रतिहिंसा) नामक भीतरी शत्रुको धृतिरूपी तरकसमें रहनेवाले तथा क्षमारूपी धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटनेवाले मैत्रीरूपी तीरोंसे मार डाला। ३९

३७—द्वितीय फल = सकृदागामि-फल। उस लोकसे दुःखका अन्त करनेके लिए एक ही बार लौटनेवालेको सकृदागामी कहते हैं। तीन संयोजनोंको क्षीण करके राग-द्वेष-मोहको क्षीण करनेवाला सकृदागामी होता है।

मूलान्यथ त्रीण्यशुभस्य वीरस्त्रिभिर्विमोक्षायतनैश्चकर्त ।
चमूमुखस्थान्धृतकार्मुकांस्त्रीनरीनिवारिस्त्रिभिरायसाग्रैः ॥४०॥

उस वीरने तीन अकुशल-मूलों (लोभ द्वेष मोह) को तीन विमोक्ष-आयतनों (विमोक्ष-मुखों) से काट डाला, जैसे कोई शत्रु सेनाके अग्रभागमें धनुष लेकर खड़े हुए तीन शत्रुओंको तीन लोहाग्र तीरोंसे काट डाले । ४०

स कामधातोः समतिक्रमाय पार्ष्णिग्रहांस्तानभिभूय शत्रून् ।
योगादनागामिफलं प्रपद्य द्वारीव निर्वाणपुरस्य तस्थौ ॥४१॥

काम-धातुका अतिक्रमण करनेके लिए पीछेसे आक्रमण करने वाले उन शत्रुओंको जीतकर, योग द्वारा अनागामि-फल प्राप्त कर, वह मानो निर्वाण-नगरके (प्रवेश-) द्वारपर खड़ा हुआ । ४१

कामैर्विविक्तं मलिनैश्च धर्मैर्वितर्कवच्चापि विचारवच्च ।
विवेकजं प्रीतिसुखोपपन्नं ध्यानं ततः स प्रथमं प्रपेदे ॥४२॥

तब वह कामों (काम-वासनाओं) से रहित, अकुशल धर्मोंसे रहित, वितर्क-युक्त, विचार-युक्त, वितर्कसे उत्पन्न तथा प्रीति व सुखसे युक्त प्रथम ध्यानको प्राप्त हुआ । ४२

कामाग्निदाहेन स विप्रमुक्तो ह्लादं परं ध्यानसुखादवाप ।
सुखं विगाह्याप्स्विव घर्मखिन्नः प्राप्येव चार्थं विपुलं दरिद्रः ४३

कामाग्निके दाहसे मुक्त होकर उसने ध्यान-सुखसे (होनेवाला) परम-आनन्द प्राप्त किया, जैसे कि गर्मीसे पीड़ित मनुष्य जलमें

४०—विमोक्ष-मुख तीन हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित (अ० को० ८।२५ तथा बुद्धचर्या, पाराजिका ४, पृष्ठ ३२१)

४१—अनागामि-फल तीसरा फल है । यह प्राप्त होने पर उस लोकसे लौटना नहीं पड़ता है ।

सुखपूर्वक अवगाहन करके या दरिद्र मनुष्य विपुल सम्पत्ति पाकर अत्यन्त आनन्दित होता है। ४३

तत्रापि तद्धर्मगतान्वितर्कान् गुणागुणे च प्रसृतान्विचारान्।
बुद्ध्वा मनःक्षोभकरानशान्तांस्तद्विप्रयोगाय मतिं चकार ॥४४॥

वहाँ भी उन (विविध) धर्मों के सम्बन्धमें होनेवाले वितर्क और उनके गुणावगुणोंके सम्बन्धमें उठे हुए विचार मनको क्षुब्ध करनेवाले और अशान्तिप्रद हैं, ऐसा समझकर उसने उनका नाश करनेकेलिए निश्चय किया। ४४

क्षोभं प्रकुर्वन्ति यथोर्मयो हि धीरप्रसन्नाम्बुवहस्य सिन्धोः।
एकाग्रभूतस्य तथोर्मिभूताश्चित्ताम्भसः क्षोभकरा वितर्काः ४५

जिस प्रकार शान्त और निर्मल जलवाली नदी तरङ्गों (के उठने) से क्षुब्ध होती है, उसी प्रकार एकाग्रताको प्राप्त चित्तरूपी जल वितर्क रूपी तरंगों (के उठने) से क्षुब्ध होता है। ४५

खिन्नस्य सुप्तस्य च निर्वृतस्य बाधं यथा संजनयन्ति शब्दाः।
अध्यात्ममैकाग्र्यमुपागतस्य भवन्ति बाधाय तथा वितर्काः॥४६

जिस प्रकार थककर सुखपूर्वक सोये हुए मनुष्यको शब्दोंसे बाधा होती है, उसी प्रकार जिसने आध्यात्मिक (भीतरी) एकाग्रता प्राप्त कर ली है उसको वितर्कोंसे बाधा होती है। ४६

अथावितर्कं क्रमशोऽविचारमेकाग्रभावान्मनसः प्रसन्नं।
समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानं तदाध्यात्मशिवं स दध्यौ॥४७

तब वह क्रमशः वितर्क-रहित, विचार-रहित, मानसिक एकाग्रता के कारण शान्त, समाधिसे उत्पन्न, प्रीति व सुखसे युक्त, तथा आध्यात्मिक कल्याणवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हुआ। ४७

तद्ध्यानमागम्य च चित्तमौनं लेभे परां प्रीतिमलब्धपूर्वां।
प्रीतौ तु तत्रापि स दोषदर्शी यथा वितर्केष्वभवत्तथैव ॥४८॥

तब मानसिक मौनवाले उस ध्यान (अवस्था) में आकर उसने उत्तम और अपूर्व प्रीति पाई, किन्तु उसने उस प्रीतिमें भी दोष देखा जैसे कि वितर्कोंमें (दोष) देखा था। ४८

प्रीतिः परा वस्तुनि यत्र यस्य विपर्ययात्तस्य हि तत्र दुःखं।
प्रीतावतः प्रेक्ष्य स तत्र दोषान्प्रीतिक्षये योगमुपारुरोह ॥४९॥

क्योंकि जिसको जिस किसी वस्तुमें बड़ी प्रीति होती है उसको उस (प्रिय) वस्तुके विपर्यय (विनाश, विपरीत) होने पर उसमें दुःख होता है; इसलिए प्रीतिमें दोष देखकर प्रीतिका विनाश करनेके लिए वह योगारूढ़ हुआ। ४९

प्रीतेर्विरागात्सुखमार्यजुष्टं कायेन विन्दन्नथ संप्रजानन्।
उपेक्षकः स स्मृतिमान्व्यहार्षीद्ध्यानं तृतीयं प्रतिलभ्य धीरः॥५०

प्रीतिसे वैराग्य होनेपर, शरीरसे आर्य-जन-सेवित (आर्योचित) सुखका अनुभव करता हुआ, ज्ञान (होश) उपेक्षा और स्मृति, (सावधानी, जागरूकता) से युक्त हो, तृतीय ध्यानको प्राप्त हो, वह धैर्यपूर्वक विहार करने लगा। ५०

यस्मात्परं तत्र सुखं सुखेभ्यस्ततः परं नास्ति सुखप्रवृत्तिः।
तस्माद्बभाषे शुभकृत्स्नभूमिं परापरज्ञः परमेति मैत्र्या ॥५१॥

क्योंकि उस अवस्थामें होनेवाला सुख सब सुखोंसे उत्तम है और उसके बाद सुखका प्रवाह (सातत्य) नहीं रहता है, इसलिए उस परा-

---

५१—तृतीय ध्यान त्रिभूमिक है और इसकी अन्तिम भूमि शुभकृत्स्न-भूमि है—अभिधर्म कोश ३। २।

परज्ञ (उत्तम और निकृष्ट अवस्थाको जाननेवाले) ने मैत्रीके कारण उस उत्तम अवस्थाको शुभकृत्स्न (-देवोंकी) भूमि समझा। ५१

ध्यानेऽपि तत्राथ ददर्श दोषं मेने परं शान्तमनिञ्जमेव।
आभोगतोऽपीञ्जयति स्म तस्य चित्तं प्रवृत्तं सुखमित्यजस्रं॥५२

उसने उस ध्यानमें भी दोष देखा और उत्तम अवस्थाको शान्त और निर्विकार समझा। परिपूर्ण होने पर भी वह अनुभूत (प्राप्त) सुख उसके चित्तमें विकार (अस्थिरता) पैदा करने लगा। ५२

यत्रेञ्जितं स्पन्दितमस्ति तत्र यत्रास्ति च स्पन्दितमस्ति दुःखं।
यस्मादतस्तत्सुखमिञ्जकत्वात्प्रशान्तिकामा यतयस्त्यजन्ति॥५३॥

क्योंकि जहाँ विकार (अस्थिरता) है वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है वहाँ दुःख है, इसलिए शान्ति चाहनेवाले यति (साधक, तपस्वी) उस सुख को विकारवान् समझकर छोड़ देते हैं। ५३

अथ प्रहाणात्सुखदुःखयोश्च मनोविकारस्य च पूर्वमेव।
दध्यावुपेक्षास्मृतिमद्विशुद्धं ध्यानं तथादुःखसुखं चतुर्थं॥५४॥

तब सुख-दुःख का परित्याग कर और मनोविकार (=सौमनस्य-दौर्मनस्य) का तो पहले ही परित्याग करके वह दुःख-सुख से रहित उपेक्षा व स्मृति से युक्त विशुद्ध चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुआ। ५४

यस्मात्तु तस्मिन्न सुखं न दुःखं ज्ञानं च तत्रास्ति तदर्थचारि।
तस्मादुपेक्षास्मृतिपारिशुद्धिर्निरुच्यते ध्यानविधौ चतुर्थे॥५५॥

क्योंकि उस (ध्यान) में न सुख है न दुःख है और है उसके लक्ष्यका साधक ज्ञान; इसलिए चतुर्थ ध्यान-विधिमें स्मृति और उपेक्षा के द्वारा शुद्धि होती है, ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जाता है। ५५

५२—आभोगः परिपूर्णता—अमरकोष

ध्यानं स निश्रित्य ततश्चतुर्थमर्हत्त्वलाभाय मतिं चकार।
संधाय मित्रं बलवन्तमार्यं राजेव देशानजितान् जिगीषुः ॥५६॥

तब चतुर्थ ध्यान का आश्रय लेकर उसने अर्हत्त्व (=जीवन्मुक्ति) प्राप्त करने का निश्चय किया, जैसे राजा बलवान् आर्य मित्र से सन्धि करके नहीं जीते हुए देशों को जीतना चाहता है। ५६

चिच्छेद कार्त्स्न्येन ततः स पञ्च प्रज्ञासिना भावनयेरितेन।
ऊर्ध्वंगमान्युत्तमबन्धनानि संयोजनान्युत्तमबन्धनानि ॥५७॥

तब उसने भावना द्वारा सञ्चालित प्रज्ञारूपी तलवारसे कल्याण के बाधक पाँच ऊर्ध्वंगामी (ऊर्ध्वभागीय) तथा कल्याणके बाधक पाँच (अवरभागीय) संयोजनों (बन्धनों) को पूरा पूरा काट डाला। ५७

बोध्यङ्गनागैरपि सप्तभिः स सप्तैव चित्तानुशयान्ममर्द।
द्वीपानिवोपस्थितविप्रणाशान् कालो ग्रहैः सप्तभिरेव सप्त ॥५८॥

उसने सात बोधि-अङ्गरूपी हाथियों द्वारा सात चित्त-अनुशयों (चित्त-मलों) को रगड़ दिया, जैसे काल सात ग्रहोंके द्वारा उपस्थित-विनाश (जिनका विनाश समीप आ गया हो ऐसे) सात द्वीपोंको नष्ट कर देता है। ५८

अग्निद्रुमाज्याम्बुषु या हि वृत्तिः कबन्धवाय्वग्निदिवाकराणां।
दोषेषु तां वृत्तिमियाय नन्दो निर्वापणोत्पाटनदाहशोषैः ॥५९॥

अग्नि वृक्ष घी और पानीके प्रति (क्रमशः) जल वायु अग्नि और सूर्यका जो आचरण (कार्य) होता है, दोषोंके प्रति नन्दने प्रशमन उन्मूलन दहन और शोषण द्वारा वही आचरण किया। ५९

इति त्रिवेगं त्रिझषं त्रिवीचमेकाम्भसं पञ्चरयं द्विकूलं।
द्विग्राहमष्टाङ्गवता प्लवेन दुःखार्णवं दुस्तरमुत्ततार ॥६०॥

इस प्रकार तीन वेगवाले तीन मछलियोंवाले तीन तरङ्गोंवाले

एक जलवाले पाँच वेगवाले दो तीरवाले और दो ग्राहवाले दुस्तर दुःख-सागरको आठ अङ्गवाली नावसे पार किया। ६०

अर्हत्त्वमासाद्य स सत्क्रियार्हो निरुत्सुको निष्प्रणयो निराशः।
विभीर्विशुग्वीतमदो विरागः स एव धृत्यान्य इवाबभासे ॥६१॥

अर्हत्त्व प्राप्त कर वह पूज्य उत्सुकता स्नेह आशा भय शोक मद और रागसे रहित होकर धैर्यके कारण दूसरा-जैसा दिखाई पड़ा। ६१

भ्रातुश्च शास्तुश्च तयानुशिष्ट्या नन्दस्ततः स्वेन च विक्रमेण।
प्रशान्तचेताः परिपूर्णकार्यो वाणीमिमामात्मगतां जगाद ॥६२॥

भाई और उपदेशकके उस उपदेशसे तथा अपने पराक्रमसे जब उसका चित्त शान्त और कार्य पूरा हो गया तब अपने ही मनमें उसने यों कहा:—६२

नमोऽस्तु तस्मै सुगताय येन हितैषिणा मे करुणात्मकेन।
बह्वनि दुःखान्यपवर्तितानि सुखानि भूयांस्युपसंहृतानि ॥६३॥

"उन सुगतको प्रणाम करता हूँ, जिन हितैषी करुणात्मकने मेरे अनेक दुःख दूर किये और असीम सुख दिये। ६३

अहं ह्यनार्येण शरीरजेन दुःखात्मके वर्त्मनि कृष्यमाणः।
निवर्तितस्तद्वचनाङ्कुशेन दर्पान्वितो नाग इवाङ्कुशेन ॥६४॥

अनार्य शरीरज (काम) द्वारा मैं दुःखात्मक मार्गमें घसीटा जा रहा था; किंतु उनके वचनरूपी अङ्कुश द्वारा मैं ऐसे लौटा लिया गया जैसे अङ्कुशद्वारा मत्त हाथी लौटाया जाता है। ६४

तस्याज्ञया कारुणिकस्य शास्तुर्हृदिस्थमुत्पाट्य हि रागशल्यं।
अद्यैव तावत्सुमहत्सुखं मे सर्वक्षये किंबत निर्वृतस्य ॥६५॥

उन कारुणिक शास्ताकी आज्ञासे हृदयमें रहनेवाले रागरूपी शल्यको निकालकर मैं आज ही ऐसा महान् सुख अनुभव कर रहा

हूँ, फिर सब (पदार्थों) का क्षय होनेके बाद निर्वाण होनेपर क्या कहना ? ६५

निर्वाप्य कामाग्निमहं हि दीप्तं धृत्यम्बुना पावकमम्बुनेव ।
ह्लादं परं सांप्रतमागतोऽस्मि शीतं ह्रदं घर्म इवावतीर्णः ॥६६॥

जैसे जलसे अग्निको शान्त करते हैं वैसे ही धैर्यरूपी जलसे प्रज्वलित कामाग्निको शान्त करके मैं सम्प्रति, गर्मीमें शीतल सरोवरमें उतरे हुएके समान, अत्यन्त आह्लादित हो रहा हूँ । ६६

न मे प्रियं किंचन नाप्रियं मे न मेऽनुरोधोऽस्ति कुतो विरोधः ।
तयोरभावात्सुखितोऽस्मि सद्यो हिमातपाभ्यामिवविप्रमुक्तः॥६७॥

मुझे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, न अनुरोध (चाह) न विरोध । इन दोनोंके अभाव से मैं अब, सर्दी गर्मी (के प्रभाव) से मुक्त हुए के समान, सुखी हूँ । ६७

महाभायात्क्षेममिवोपलभ्य महवरोधादिव विप्रमोक्षं ।
महार्णवात्पारमिवाप्लवः सन्भीमान्धकारादिव च प्रकाशं ॥६८॥

महा-विपत्तिसे कुशल-क्षेम प्राप्त करनेवालेके समान, महा-बन्धनसे मुक्ति पानेवालेके समान, नावके विना ही महासागरसे पार पानेवालेके समान, भीषण अन्धकारसे (निकलकर) प्रकाश पानेवालेके समान, ६८

रोगादिवारोग्यमसह्यरूपादृणादिवानृण्यमनन्तसंख्यात् ।
द्विषत्सकाशादिव चापयानं दुर्भिक्षयोगाच्च यथा सुभिक्षं ॥६९॥

असह्य रोगसे आरोग्य पानेवालेके समान, अनन्त-राशि ऋणसे उऋण होनेवालेके समान, शत्रुके समीपसे भाग निकलनेवालेके समान और अकालसे सुकालमें आनेवालेके समान, ६९

तद्धत्परां शान्तिमुपागतोऽहं यस्यानुभावेन विनायकस्य ।
करोमि भूयः पुनरुक्तमस्मै नमो नमोऽर्हाय तथागताय ॥ ७० ॥

मैं जिन विनायककी कृपासे परम शांतिको प्राप्त हुआ हूँ उन पूज्य तथागतको बार बार प्रणाम करता हूँ । ७०

येनाहं गिरिमुपनीय रुक्मशृङ्गं
स्वर्गं च प्लवगवधूनिदर्शनेन ।
कामात्मा त्रिदिवचरीभिरङ्गनाभि-
र्निष्कृष्टो युवतिमये कलौ निमग्नः ॥७१॥

जिन्होंने मुझ कामासक्त तथा युवतिमय पापमें डूबे हुएको स्वर्ण-शिखर पर्वतपर और स्वर्गमें ले जाकर शाखामृगीके दृष्टान्त द्वारा तथा दिव्याङ्गनाओं (अप्सराओं) के द्वारा बाहर निकाला, ७१

तस्माच्च व्यसनपरादनर्थपङ्का-
दुत्कृष्य क्रमशिथिलः करीव पङ्कात्
शान्तेऽस्मिन्विरजसि विज्वरे विशोके
सद्धर्मे वितमसि नैष्ठिके विमुक्तः ॥७२॥

और जिन्होंने मुझे उस विपत्ति-प्रद अनर्थरूपी पङ्कसे, जैसे थके हुए हाथीको कीचड़से, बाहर निकालकर इस शांत निर्मल ताप-रहित शोक-रहित तम-रहित नैष्ठिक सद्धर्ममें छोड़ (रख) दिया, ७२

तं वन्दे परमनुकम्पकं महर्षिं
मूर्ध्नाहं प्रकृतिगुणज्ञमाशयज्ञं ।
संबुद्धं दशबलिनं भिषक्प्रधानं
त्रातारं पुनरपि चास्मि संनतस्तं ॥७३॥

महाकाव्ये सौन्दरनन्देऽमृताधिगमो नाम सप्तदशः सर्गः ।

उन (प्राणियोंके) प्रकृति गुण और आशयको जाननेवाले परम दयालु महर्षि बुद्ध, दश-बल-धारी श्रेष्ठ चिकित्सक और त्राताको शिर नवाकर प्रणाम करता हूँ। उन्हें फिरसे प्रणाम करता हूँ। ७३

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "अमृत-प्राप्ति"
नामक सप्तदश सर्ग समाप्त।

—

अष्टादश सर्ग

आज्ञा—व्याकरण*

अथ द्विजो बाल इवाप्तवेदः क्षिप्रं वणिक् प्राप्त इवाप्तलाभः ।
जित्वा च राजन्य इवारिसैन्यं नन्दः कृतार्थो गुरुमभ्यगच्छत् ॥१

तब जैसे द्विज-बालक वेदाध्ययन समाप्त करके, बनिया तुरंत लाभ उठाकर, क्षत्रिय (राजा) शत्रु-सेनाको जीतकर, (अपने गुरु या उपदेशकके समीप) पहुँचता है, वैसे ही नन्द कृतार्थ होकर अपने गुरुके समीप गया । १

द्रष्टुं सुखं ज्ञानसमाप्तिकाले गुरुर्हि शिष्यस्य गुरोश्च शिष्यः ।
परिश्रमस्ते सफलो मयीति यतो दिदृक्षास्य मुनौ बभूव ॥२॥

विद्या-समाप्तिके समय शिष्यकेलिए गुरुका दर्शन और गुरुके लिए शिष्यका दर्शन आनन्द-दायक होता है । 'आपने मेरे लिए जो परिश्रम किया वह सफल हुआ' ऐसा सोचकर उसने मुनिका दर्शन करना चाहा । २

यतो हि येनाधिगतो विशेषस्तस्योत्तमांसोऽर्हति कर्तुमिज्यां ।
आर्यः सरागोऽपि कृतज्ञभावात्प्रक्षीणमानः किमु वीतरागः ॥३॥

क्योंकि जिसने जिससे विशेष (लाभ, ज्ञान) प्राप्त किया है उसको उसकी उत्तम पूजा करनी चाहिए । राग-युक्त होने पर भी

---

* आज्ञा = अर्हत्त्व, परम ज्ञान, उत्तम ज्ञान; व्याकरण = कथन, उपदेश, व्याख्या ।

३—पा० 'तस्योत्तमाङ्गे' ।

आर्य पुरुष कृतज्ञ भाव से (अपने गुरुकी) पूजा करता है, फिर मान-रहित और राग-रहित व्यक्ति का क्या कहना ? ३

यस्यार्थकामप्रभवा हि भक्तिस्ततोऽस्य सा तिष्ठति रूढमूला ।
धर्मान्वयो यस्य तु भक्तिरागस्तस्य प्रसादो हृदयावगाढः ॥४॥

जिसकी भक्ति अर्थ और कामसे उत्पन्न होती है उसकी वह भक्ति बद्धमूल होकर रहती है; किन्तु जिसकी भक्ति धर्मका अनुसरण करनेसे उत्पन्न होती है उसकी श्रद्धा हृदयमें जड़ जमाती है । ४

काषायवासाः कनकावदातस्ततः स मूर्ध्ना गुरवे प्रणेमे ।
वातेरितः पल्लवताम्रराग: पुष्पोज्ज्वलश्रीरिव कर्णिकारः ॥५॥

तब उस सुनहले रंगवाले काषाय वस्त्रधारीने मस्तक झुकाकर गुरुको प्रणाम किया, मानो अपने पल्लवोंसे ताम्रवर्ण तथा अपने फूलोंसे उज्ज्वल कर्णिकार वृक्ष वायु-प्रकम्पित होकर नीचे झुक रहा हो । ५

अथात्मनः शिष्यगुणस्य चैव महामुनेः शास्तृगुणस्य चैव ।
संदर्शनार्थं स न मानहेतोः स्वां कार्यसिद्धिं कथयांबभूव ॥६॥

तब अभिमानसे नहीं, किन्तु अपनी उत्तम शिष्यता तथा महामुनिके उपदेशकी उत्कृष्टता दिखलानेके लिए, उसने अपनी कार्यसिद्धि कह सुनाई :— ६

यो दृष्टिशल्यो हृदयावगाढः प्रभो भृशं मामतुदत्सुतीक्ष्णः ।
त्वद्वाक्यसंदंशमुखेन मे स समुद्धृतः शल्यहृतेव शल्यः ॥७॥

"जो कुदृष्टिरूपी तीक्ष्ण शल्य, हे प्रभो मेरे हृदयमें गड़ा हुआ था और मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहा था वह आपके वाक्यरूपी संदश (संड़सी) द्वारा बाहर खींच लिया गया, जैसे शल्य निकालनेवाले (यंत्र या वैद्य) के द्वारा शल्य बाहर निकाला जाता है । ७

कथंकथाभावगतोऽस्मि येन छिन्नः स निःसंशय संशयो मे ।
त्वच्छासनात्सत्पथमागतोऽस्मि सुदेशिकस्येव पथि प्रनष्टः ॥८॥

हे संशय-रहित, वह संशय, जिसके कारण मैं संदेह-सूचक प्रश्न किया करता था, नष्ट हो गया। आपके उपदेशसे मैं सन्मार्ग पर आ गया हूँ, जैसे कि रास्ता भूला हुआ आदमी पथ-प्रदर्शकके उपदेशसे ठीक रास्तेपर आ जाता है। ८

यत्पीतमास्वादवशेन्द्रियेण दर्पेण कन्दर्पविषं मयासीत् ।
तन्मे हतं त्वद्वचनागदेन विषं विनाशीव महागदेन ॥९॥

आस्वादके वशीभूत होकर मैंने मदसे जिस कामरूपी विषको पिया था वह आपके वचनरूपी ओषधिके द्वारा नष्ट हो गया, जैसे कि प्राण-विनाशक विष महौषधि (के सेवन) से नष्ट हो जाता है। ९

क्षयं गतं जन्म निरस्तजन्मन्सद्धर्मचर्यामुषितोऽस्मि सम्यक् ।
कृत्स्नं कृतं मे कृतकार्य कार्यं लोकेषु भूतोऽस्मि न लोकधर्मा १०

हे जन्म-मुक्त, मैं जन्मसे मुक्त हो गया और अच्छी तरह सद्धर्म का आचरण कर रहा हूँ। हे कृतकार्य, मैंने सारा कार्य कर लिया। यद्यपि मैं लोक (संसार) में हूँ, तो भी लोक-धर्मसे लिप्त नहीं हूँ। १०

मैत्रीस्तनीं व्यञ्जनचारुसास्नां सद्धर्मदुग्धां प्रतिभानशृङ्गां ।
तवास्मि गां साधु निपीय तृप्तस्तृषेव गामुत्तम वत्सवर्णः ॥११॥

मैत्री जिसके स्तन हैं, स्पष्ट अभिव्यक्ति जिसका गलकम्बल (गाय-बैल के गलेमें लटकनेवाला चमड़ा) है, सद्धर्म जिसका दूध है और प्रतिभान (ज्ञान) जिसके सींग हैं ऐसी आपकी वाणीरूपी

८—पा० 'कथंकथी०'।
१०—पा० 'लोके प्रसूतो', 'लोके प्रभूतो'।

गाय (के दूध) को पीकर मैं तृप्त हो गया हूँ, जैसे भूखसे व्याकुल बछड़ा, हे उत्तम, अपनी गायको पीकर तृप्त हो जाता है। ११

यत्पश्यतश्चाधिगमो ममायं तन्मे समासेन मुने निबोध।
सर्वज्ञ कामं विदितं तवैतत्स्व तूपचारं प्रविवक्षुरस्मि ॥१२॥

मुझमें जिस दृष्टिके होनेसे मैंने यह (अर्हत्त्व) प्राप्त किया है उसको, हे मुने, संक्षेपसे सुनिए। हे सर्वज्ञ, आपको तो यह विदित ही है, तो भी मैं अपना उपचार कहना चाहता हूँ। १२

अन्येऽपि सन्तो विमुमुक्षवो हि श्रुत्वा विमोक्षाय नयं परस्य।
मुक्तस्य रोगादिव रोगवन्तस्तेनैव मार्गेण सुखं घटन्ते ॥१३॥

क्योंकि मुक्ति चाहनेवाले दूसरे लोग भी दूसरेके (द्वारा अनुसृत) मोक्ष-मार्गको सुनकर उसी मार्गसे सुख-पूर्वक प्रयत्न करते हैं, जैसे कि रोगी मनुष्य रोगसे मुक्त हुए के मुक्ति-उपायको सुनकर उसी उपायसे (स्वस्थ होनेके लिए) यत्न करते हैं। १३

उर्व्यादिकान् जन्मनि वेद्मि धातून्नात्मानमुर्व्यादिषु तेषु किञ्चित्।
यस्मादतस्तेषु न मेऽस्ति सक्तिर्बहिश्च कायेन समा मतिर्मे १४

मैं जानता हूँ कि जन्म (के मूल) में पृथ्वी आदि धातु विद्यमान हैं और उन पृथ्वी आदि धातुओंमें कोई आत्मा नहीं है; इसलिए उनमें मेरी आसक्ति नहीं है। शरीरको और शरीरके बाहरी पदार्थको मैं समान समझता हूँ। १४

स्कन्धांश्च रूपप्रभृतीन्दशार्धान्पश्यामि यस्माच्चपलानसारान्।
अनात्मकांश्चैव वधात्मकांश्च तस्माद्विमुक्तोऽस्म्यशिवेभ्य एभ्यः

क्योंकि मैं रूप आदि पञ्च-स्कन्धोंको चञ्चल असार अनात्म और विनाशक (अकुशल) देखता हूँ, इसलिए मैं इन अमङ्गल वस्तुओंसे अलग हो गया हूँ। १५

यस्माच्च पश्याम्युदयं व्ययं च सर्वास्ववस्थास्वहमिन्द्रियाणां ।
तस्मादनित्येषु निरात्मकेषु दुःखेषु मे तेष्वपि नास्ति संगः ॥१६

मैं देखता हूँ कि सब अवस्थाओंमें इन्द्रियोंका उदय और व्यय होता है, इसलिए इन अनित्य अनात्म और दुःखरूप इन्द्रियों में मेरी आसक्ति नहीं है। १६

यतश्चलोकं समजन्मनिष्ठं पश्यामि निःसारमसच्च सर्वं ।
अतो धिया मे मनसा विबद्धमस्मीति मे नेञ्जितमस्ति येन ॥१७

क्योंकि संसारको जन्मशील और मरणशील तथा सब पदार्थों को असार और असत् देखता हूँ............जिससे कि मुझ में अहंभाव (मैं हूँ) यह विकार नहीं रहा। १७

चतुर्विधे नैकविधप्रसंगे यतोऽहमाहारविधावसक्तः ।
अमूर्छितश्चाग्रथितश्च तत्र त्रिभ्यो विमुक्तोऽस्मि ततो भवेभ्यः१८

अनेक प्रकारकी आसक्तियों सहित चार प्रकारके आहारमें मैं आसक्त, मूढ़ (बेसुध) या बँधा हुआ नहीं हूँ, इसलिए मैं तीन भवोंसे मुक्त हूँ। १८

अनिश्चितश्चाप्रतिबद्धचित्तो दृष्टश्रुतादौ व्यवहारधर्मे ।
यस्मात्समात्मानुगतश्च तत्र तस्माद्विसंयोगगतोऽस्मि मुक्तः १६

देखने सुनने आदिके व्यावहारिक धर्म (क्रिया) में मैं आश्रित

१७—द्वितीय पाद का पाठ और इसलिए अर्थ भी अनिश्चित है।

१८—चार प्रकार के आहारः—(१) कवलीकार (स्थूल और सूक्ष्म) (२) स्पर्श (इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संयोग से उत्पन्न होने-वाला) (३) मनस्संचेतना (मानसिक कर्म, विचार) (४) विज्ञान (विज्ञान-स्कन्ध)—अभिधर्मकोश ३।३८।
तीन भव—रूप, अरूप, और काम।

या आसक्त-चित्त नहीं हूँ, उसमें मेरा चित्त समभावको प्राप्त हो गया है, इसलिए मैं उससे अलग और मुक्त हो गया हूँ।" १९

इत्येवमुक्त्वा गुरुबाहुमान्यात्सर्वेण कायेन स गां निपन्नः।
प्रवेरितो लोहितचन्दनाक्तो हैमो महास्तम्भ इवावभासे ॥२०॥

इतना कहकर गुरुके प्रति सम्मान भाव होनेके कारण उसने सम्पूर्ण शरीरसे पृथ्वीका स्पर्श किया, जैसे लाल चन्दनसे लिप्त सुवर्ण-निर्मित महास्तम्भ पृथ्वी पर झुक गया हो। २०

ततः प्रमादात्प्रसृतस्य पूर्वं श्रुत्वा धृतिं व्याकरणं च तस्य।
धर्मान्वयं चानुगतं प्रसादं मेघस्वरस्तं मुनिराबभाषे ॥२१॥

तब जो पहले प्रमाद-वश (सन्मार्गसे) भटका था उसका धैर्य, धर्म-व्याख्या, धर्माचरण और श्रद्धा देखकर, मुनिने मेघके समान (गम्भीर) वाणी में कहाः—२१

उत्तिष्ठ धर्मे स्थित शिष्यजुष्टे किं पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव ॥२२॥

"हे शिष्य-धर्ममें रहनेवाले, उठो। क्यों मेरे चरणोंपर मस्तक टेककर पड़े हुए हो? मुझे प्रणाम करना मेरा वैसा सम्मान नहीं है जैसा कि यह धर्माचरण। २२

अद्यासि सुप्रव्रजितो जितात्मन्नैश्वर्यमप्यात्मनि येन लब्धं।
जितात्मनः प्रव्रजनं हि साधु चलात्मनो न त्वजितेन्द्रियस्य ॥२३॥

हे जितात्मन्, आज तुम्हारा प्रव्रजित होना (संन्यास ग्रहण करना) सफल हुआ, जो तुमने अपने ऊपर ईश्वरत्व (अधिकार) प्राप्त किया। जिसने अपनेको जीत लिया है उसीका प्रव्रजित होना उचित है, न कि चञ्चलात्मा अजितेन्द्रिय व्यक्ति का। २३

अद्यासि शौचेन परेण युक्तो वाक्कायचेतांसि शुचीनि यत्ते ।
अतः पुनश्चाप्रयतामसौम्यां यत्सौम्य नो वेदयसि गर्भशय्यां २४

आज तुम आत्यन्तिक शुद्धिसे युक्त हो, क्योंकि तुम्हारा शरीर वचन और चित्त शुद्ध है और क्योंकि, हे सौम्य, अब फिर अपवित्र और असौम्य गर्भ-शय्यामें प्रवेश नहीं करोगे । २४

अद्यार्थवत्ते श्रुतवच्छ्रुतं तच्छ्रुतानुरूपं प्रतिपद्य धर्मं ।
कृतश्रुतो विप्रतिपद्यमानो निन्द्यो हि निर्वीर्य इवात्तशस्त्रः ॥२५॥

आज तुम्हारा वह शास्त्र-ज्ञान सार्थक है, तुमने शास्त्रके अनुसार धर्माचरण किया; क्योंकि शास्त्रका अभ्यास करके उसके अनुसार आचरण नहीं करनेवाला निन्दाका पात्र होता है, जैसे शस्त्र ग्रहण करके उद्योग (युद्ध) नहीं करनेवालेकी निन्दा होती है । २५

अहो धृतिस्तेऽविषयात्मकस्य
यत्त्वं मतिं मोक्षविधावकार्षीः ।
यास्यामि निष्ठामिति बालिशो हि
जन्मक्षयात्त्रासमिहाभ्युपैति ॥२६॥

अहो तुम्हारा धैर्य ! विषयोंसे विरक्त होकर तुमने मोक्ष प्राप्तिके उपायमें अपना मन लगाया । 'मेरा अन्त हो जायगा' ऐसा सोचकर मूर्ख मनुष्य जन्म-विनाशसे इस संसारमें भयभीत होता है । २६

दिष्ट्या दुरापः क्षणसंनिपातो नायं कृतो मोहवशेन मोघः ।
उदेति दुःखेन गतो ह्यधस्तात्कूर्मो युगच्छिद्र इवार्णवस्थः ॥२७॥

(कुछ ही क्षणोंका) यह (मनुष्य-) जीवन दुर्लभ है, सौभाग्यसे तुमने मोहवश इसे व्यर्थ नहीं बिताया । नीचे (की योनिमें) गया हुआ मनुष्य कठिनाईसे ऊपर आता है, जैसे कि समुद्रमें रहनेवाला कूर्म कठिनाईसे जुएके छेदमें आता है । २७

निर्जित्य मारं युधि दुर्निवारमद्यासि लोके रणशीर्षशूरः ।
शूरोऽप्यशूरः स हि वेदितव्यो दोषैरमित्रैरिव हन्यते यः ।।२८।।

युद्धमें दुर्जय मारको जीतकर आज तुम संसारमें संग्रामके अग्र-भागमें रहनेवाले वीर हो; क्योंकि उस वीरको भी कायर ही समझना चाहिए, जो कि दोषोंके द्वारा ऐसे मारा जाता है जैसे कि शत्रुओंके द्वारा। २८

निर्वाप्य रागाग्निमुदीर्णमद्य दिष्ट्या सुखं स्वप्स्यसि वीतदाहः ।
दुःखं हि शेते शयनेऽप्युदारे क्लेशाग्निना चेतसि दह्यमानः २९

सौभाग्यसे आज तुमने प्रदीप्त रागाग्निको शान्त किया, अब तुम दाह-रहित होकर सुखपूर्वक सोओगे; क्योंकि जिसका चित्त क्लेशाग्निसे जलता रहता है, वह उत्तम शय्यापर भी कष्टपूर्वक ही सोता है। २९

अभ्युच्छ्रितो द्रव्यमदेन पूर्वमद्यासि तृष्णोपरमात्समृद्धः ।
यावत्सतर्षः पुरुषो हि लोके तावत्समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः ।।३०।।

पूर्वमें तुम द्रव्यके मदसे मत्त थे और आज तृष्णाके नष्ट हो जानेसे समृद्धिशाली हो; क्योंकि संसारमें जब तक मनुष्य तृष्णासे युक्त रहता है तबतक समृद्धिशाली होनेपर भी वह दरिद्र ही रहता है। ३०

अद्यापदेष्टुं तव युक्तरूपं शुद्धोदनो मे नृपतिः पितेति ।
भ्रष्टस्य धर्मात्पितृभिर्निपातादश्लाघनीयो हि कुलापदेशः ।।३१।।

आज तुम्हारेलिए यह कहना उचित है कि राजा शुद्धोदन मेरे पिता हैं; क्योंकि जो अपने पूर्वजोंके द्वारा पालित धर्मसे च्युत हो गया है उसकेलिए अपने कुलकी घोषणा करना प्रशंसनीय नहीं है।३१

दिष्ट्यासि शान्तिं परमामुपेतो निस्तीर्णकान्तार इवाप्तसारः।
सर्वो हि संसारगतो भयार्तो यथैव कान्तारगतस्तथैव ॥३२॥

सौभाग्यसे तुमने परम शान्ति प्राप्त कर ली है, जैसे मरुभूमि (या बीहड़ वन) को पार करके सम्पत्ति प्राप्त करनेवाला मनुष्य शान्ति लाभ करता है; क्योंकि संसार (-चक्र) में पड़े हुए सभी लोग विपत्तिसे ऐसे पीड़ित रहते हैं जैसे कि कान्तारमें गये हुए लोग। ३२

आरण्यकं भैक्षचरं विनीतं द्रक्ष्यामि नन्दं निभृतं कदेति।
आसीत्पुरस्तात्त्वयि मे दिदृक्षा तथासि दिष्ट्या मम दर्शनीयः३३

मैं नन्दको कब अरण्य-वासी भिक्षाचारी विनीत और एकान्त-सेवी देखूँगा, पूर्वमें मेरी ऐसी ही इच्छा थी, सो सौभाग्यसे मैं आज तुम्हें उसी रूपमें देख रहा हूँ। ३३

भवत्यरूपोऽपि हि दर्शनीयः स्वलंकृतः श्रेष्ठतमैर्गुणैः स्वैः।
दोषैः परीतो मलिनीकरैस्तु सुदर्शनीयोऽपि विरूप एव ॥३४॥

अपने श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत होकर कुरूप मनुष्य भी दर्शनीय हो जाता है; किन्तु गंदे दोषोंसे व्याप्त होकर रूपवान् भी कुरूप हो जाता है। ३४

अद्य प्रकृष्टा तव बुद्धिमत्ता कृत्स्नं यया ते कृतमात्मकार्यं।
श्रुतोन्नतस्यापि हि नास्ति बुद्धिर्नोत्पद्यते श्रेयसि यस्य बुद्धिः॥३५

आज तुम्हारी बुद्धि, उत्कृष्ट है, जिसके द्वारा तुमने अपना सारा कार्य कर लिया। विद्वान् होनेपर भी यदि किसीको श्रेयस्कर बुद्धि न हो तो उसको बुद्धि नहीं है। ३५

उन्मीलितस्यापि जनस्य मध्ये निमीलितस्यापि तथैव चक्षुः।
प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि३६

उसी प्रकार खुली आँखोंवाले लोगोंके बीच बन्द आँखोंवाले

को भी दृष्टि हो सकती है; क्योंकि जिसको प्रज्ञा-चक्षु नहीं है उसको चक्षु होने पर भी (वास्तव में) चक्षु नहीं है। ३६

दुःखप्रतीकारनिमित्तमार्तः कृष्यादिभिः खेदमुपैति लोकः।
अजस्रमागच्छति तच्च भूयो ज्ञानेन यस्याद्य कृतस्त्वयान्तः॥३७॥

दुःख-प्रतीकारकेलिए दुःखी जगत् कृषि आदि कार्य करके श्रान्त होता है और फिर भी उसको वह दुःख सदा होता ही रहता है, जिसका कि तुमने आज ज्ञान द्वारा अन्त कर दिया। ३७

दुःखं न मे स्यात्सुखमेव मे स्यादिति प्रवृत्तः सततं हि लोकः।
न वेत्ति तच्चैव तथा यथा स्यात्प्राप्तं त्वयाद्यासुलभं यथावत्॥३८

मुझे दुःख न हो, मुझे सुख ही हो, इसकेलिए जगत् सदा प्रयत्न करता है; किंतु वह नहीं जानता है कि वह (सुख) कैसे प्राप्त होता है, तुमने आज उस दुर्लभ (वस्तु, सुख) को तत्त्वतः प्राप्त कर लिया। ३८

इत्येवमादि स्थिरबुद्धिचित्तस्तथागतेनाभिहितो हिताय।
स्तवेषु निन्दासु च निर्व्यपेक्षः कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाच नन्दः ३६

तथागतने स्थिर-बुद्धि और स्थिर-चित्त नन्दसे उसके हितकेलिये इस प्रकार बहुत कुछ कहा। तब स्तुति और निन्दामें निरपेक्ष (समान) रहनेवले नन्दने हाथ जोड़कर यह वचन कहा :—३६

अहो विशेषेण विशेषदर्शिंस्त्वयानुकम्पा मयि दर्शितेयं।
यत्कामपङ्के भगवन्निमग्नस्त्रातोऽस्मि संसारभयादकामः॥४०॥

"हे विशेष-दर्शिन्, आपने विशेष रूपसे मेरे ऊपर यह अनुकम्पा दर्शाई। हे भगवन्, मैं काम रूपी कीचड़में डूबा हुआ था, आपने भवचक्रके भयसे मुझे बचा लिया, अब मैं काम (रूपी कीचड़) से मुक्त हो गया हूँ। ४०

भ्रात्रा त्वया श्रेयसि दैशिकेन पित्रा फलस्थेन तथैव मात्रा।
हतोऽभविष्यं यदि न व्यमोक्ष्यं सार्थात्परिभ्रष्ट इवाकृतार्थः ॥४१॥

फलकी इच्छा रखनेवाले पिता-स्वरूप तथा माता-स्वरूप, श्रेय के उपदेशक, मेरे (बड़े) भाई आपने यदि अर्थ (लक्ष्य) को प्राप्त किये विना ही समूहसे भटके हुए (यात्री) के समान मुझे न बचा लिया होता तो मैं नष्ट हो गया होता। ४१

शान्तस्य तुष्टस्य सुखो विवेको विज्ञाततत्त्वस्व परीक्षकस्य।
प्रहीणमानस्य च निर्मदस्य सुखं विरागत्वमसक्तबुद्धेः ॥४२॥

शान्त संतुष्ट तत्त्वज्ञ और दार्शनिक को आसानी से विवेक होता है और मान-रहित मद-रहित तथा अनासक्त-बुद्धि को आसानी से वैराग्य होता है। ४२

अथो हि तत्त्वं परिगम्य सम्यङ्निर्धूय दोषानधिगम्य शान्तिं।
स्वं नाश्रमं संप्रति चिन्तयामि न तं जनं नाप्सरसो न देवान् ॥४३

तत्त्वको ठीक ठीक जानकर, दोषोंको हटाकर और शान्तिको प्राप्त कर अब मुझे अपने (गृहस्थ-) आश्रम उस सुन्दरी, अप्सराओं या देवताओंकी चिन्ता न रही। ४३

इदं हि भुक्त्वा शुचि शार्मिकं सुखं न मे मनः कांक्षति कामजं सुखं
महार्हमप्यन्नमदैवताहृतं दिवौकसो भुक्तवतः सुधामिव ॥४४॥

इस पवित्र शान्ति-सुखको भोगकर अब मेरा मन काम-ज सुख की अभिलाषा नहीं करता है, जैसे अमृत खा करके देवता का चित्त दूसरे (देवेतर) प्राणियों के द्वारा खाये जानेवाले अन्न को, चाहे कितना ही कीमती क्यों न हो, इच्छा नहीं करता। ४४

४३—पा० 'अहं हि'। 'न श्रमं' 'नाश्रयं'।

अहोऽन्धविज्ञाननिमीलितं जगत्पटान्तरे पश्यति नोत्तमं सुखं।
सुधीरमध्यात्मसुखं व्यपास्य हि श्रमं तथा कामसुखार्थमृच्छति४५

अहो! अज्ञानान्धकारसे मुँदी हुई आँखों वाला जगत् पटाच्छादित उत्तम सुखको नहीं देख रहा है; क्योंकि स्थायी अध्यात्म-सुखको छोड़कर वह काम-ज सुखकेलिए परिश्रम करता है। ४५

यथा हि रत्नाकरमेत्य दुर्मतिर्विहाय रत्नान्यसतो मणीन्हरेत्।
अपास्य संबोधिसुखं तथोत्तमं श्रमं व्रजेत्कामसुखोपलब्धये ४६

जैसे कोई दुर्बुद्धि रत्नोंकी खानमें जाये और (उत्तम) रत्नोंको छोड़कर असत् मणियों को ले आये, वैसे ही उत्तम बोधि-सुख को छोड़कर काम-सुखकी प्राप्तिकेलिए परिश्रम करे। ४६

अहो ही सत्त्वेष्वतिमैत्रचेतसस्तथागतस्यानुजिघृक्षुता परा।
अपास्य यद्ध्यानसुखं मुने परं परस्य दुःखोपरमाय खिद्यसे।।४७

अहो! प्राणियों के प्रति तथागत का चित्त अत्यन्त मैत्रीपूर्ण है और उनके ऊपर तथागत अत्यन्त अनुग्रह करना चाहते हैं; इसीलिए तो, हे मुने, उत्तम ध्यान-सुख को छोड़कर आप दूसरों का दुःख दूर करनेकेलिए श्रम कर रहे हैं। ४७

मया नु शक्यं प्रतिकर्तुमद्य किं गुरौ हितैषिण्यनुकम्पके त्वयि।
समुद्धृतो येन भवार्णवादहं महार्णवाच्चूर्णितनौरिवोर्मिभिः ४८

क्या मैं हितैषी और कारुणिक आप गुरुदेवका कुछ प्रति-उपकार कर सकता हूँ? आपने मुझे भव-सागर से ऐसे निकाला जैसे जिसकी नाव तरंगों से चूर हो रही हो उसको महासागर से निकाला जाय।" ४८

४५—या 'वस्त्र परिवर्तन में (काषाय-वस्त्र ग्रहण करने में) उत्तम सुखको नहीं देख रहा है'। पा० 'स्वाधीनमध्यात्मसुखं'।

ततो मुनिस्तस्य निशम्य हेतुमत्प्रहीणसर्वास्रवसूचकं वचः ।
इदं बभाषे वदतामनुत्तमो यदर्हति श्रीघन एव भाषितुं ॥४६॥

तब उसके उस हेतुपूर्ण (युक्तियुक्त) वचनको, जिससे कि उसके सब आस्रवों (चित्त-मलों) का नष्ट होना सूचित हो रहा था, सुनकर वक्ता-श्रेष्ठमुनिने यह वचन कहा जो कि श्रीघन (बुद्ध) ही कह सकते हैं—४६

इदं कृतार्थः परमार्थवित्कृती त्वमेव धीमन्नभिधातुमर्हसि ।
अतीत्य कान्तारमवाप्तसाधनः सुदैशिकस्येव कृतं महावणिक् ५०

"हे धीमन्, आप कृतार्थ, परमार्थको जाननेवाले तथा पुण्यात्मा ही ऐसा कह सकते हैं, जैसे मरुभूमिको पार करके धन प्राप्त करनेवाला महावणिक् ही अपने पथ-प्रदर्शकके उपकारका बखान कर सकता है । ५०

अवैति बुद्धं नरदम्यसारथिं कृती यथार्हन्नुपशान्तमानसः ।
न दृष्टसत्योऽपि तथावबुध्यते पृथग्जनः किंबत बुद्धिमानपि ॥५१

शान्त-चित्त पुण्यात्मा जीवन्मुक्त पुरुष मनुष्यरूपी घोड़ोंके सारथि स्वरूप बुद्धको जितना समझता है उतना तो तत्त्वदर्शी भी नहीं समझ सकता है, फिर सांसारिक मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी कहाँ तक समझ सकेगा ? ५१

रजस्तमोभ्यां परिमुक्तचेतसस्तवैव चेयं सदृशी कृतज्ञता ।
रजःप्रकर्षेण जगत्यवस्थिते कृतज्ञभावो हि कृतज्ञ दुर्लभः ॥५२॥

यह ऐसी कृतज्ञता तो तुम्हारे ही अनुरूप है, तुम्हारा चित्त रजस् और तमस् से मुक्त जो है, क्योंकि हे कृतज्ञ, रजसकी अधिकतासे व्याप्त जगत्में कृतज्ञताका भाव दुर्लभ है । ५२

सधर्म धर्मान्वयतो यतश्च ते
मयि प्रसादोऽधिगमे च कौशलं ।

अतोऽस्ति भूयस्त्वयि मे विवक्षितं
नतो हि भक्तश्च नियोगमर्हसि ॥५३॥

हे समानधर्मा, धर्मान्वय के कारण मुझमें तुम्हारी श्रद्धा है और (लक्ष्य की) प्राप्तिमें तुमने कौशल दिखलाया है; अतः मैं पुनः तुम्हें कुछ कहना चाहता हूँ, क्योंकि विनम्र भक्त तुम आदेश के पात्र हो । ५३

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतो न तेऽस्ति किंचित्करणीयमण्वपि
अतःपरं सौम्य चरानुकम्पया विमोक्षयन् कृच्छ्रगतान्परानपि ५४

तुमने अपना कार्य पूरा कर लिया है, तुम परम गति प्राप्त कर चुके हो, तुम्हारेलिए अब अणुमात्र करनेको भी शेष नहीं है; अबसे, हे सौम्य, दूसरोंको भी मुक्त करते हुए अनुकम्पापूर्वक विचरण करो ।

इहार्थमेवारभते नरोऽधमो विमध्यमस्तूभयलौकिकीं क्रियां ।
क्रियामुत्रैव फलाय मध्यमो विशिष्टधर्मा पुनरप्रवृत्तये ॥५५॥

नीच मनुष्य इहलोककेलिए ही कार्यारम्भ करता है, विमध्यम (श्रेणीका) मनुष्य (इहलोक और परलोक) दोनों लोकोंके लिए, मध्यम (श्रेणीका) मनुष्य परलोकमें फल पानेकेलिए ही और विशिष्ट धर्मवाला (उत्तम श्रेणीका) मनुष्य पुनर्जन्मसे मुक्तिकेलिए कार्य करता है । ५५

इहोत्तमेभ्योऽपि मतः स तूत्तमो य उत्तमं धर्ममवाप्य नैष्ठिकं ।
अचिन्तयित्वात्मगतं परिश्रमं शमं परेभ्योऽप्युपदेष्टुमिच्छति॥५६

इस संसारमें वही मनुष्य उत्तमसे भी उत्तम माना गया है जोकि उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर, अपने परिश्रमकी चिन्ता न करता हुआ दूसरों को भी शम-धर्म (शान्ति) का उपदेश देना चाहता है । ५६

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो ।
भ्रमत्सु सत्त्वेषु तमोवृतात्मसु श्रुतप्रदीपो निशि धार्यतामयं ॥५७

इसलिए इस संसारमें, हे स्थिरात्मन्, अपना कार्य छोड़कर दूसरोंका भी कार्य करो। रात्रि-कालमें भटकते हुए तमोवृत जीवोंके बीच इस ज्ञान-प्रदीप (धर्म-प्रदीप) को धारण करो। ५७

ब्रवीतु तावत्पुरि विस्मितो जनस्त्वयि स्थिते कुर्वति धर्मदेशनाः
अहोबताश्चर्यमिदं विमुक्तये करोति रागी यदयं कथामिति ॥५८

जब तुम नगरमें धर्मोपदेश करते रहोगे तब लोग विस्मित होकर यों कहें—'अहो! यह आश्चर्य! यह नन्द जो पहले कामासक्त था अब मुक्तिकी बात बतला रहा है'। ५८

ध्रुवं हि संश्रुत्य तव स्थिरं मनो निवृत्तनानाविषयैर्मनोरथैः।
वधूर्गृहे सापि तवानुकुर्वती करिष्यते स्त्रीषु विरागिणीः कथाः॥

नाना विषयोंकी इच्छाओंसे मुक्त होकर तुम्हारा मन स्थिर हो गया है, यह सुनकर तुम्हारी वह पत्नी भी निश्चय ही घरमें तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियोंके बीच वैराग्यकी कथा कहेगी। ५९

त्वयि परमधृतौ निविष्टतत्त्वे भवनगता न हि रंस्यते ध्रुवं सा।
मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखैः परीक्षकस्य॥

क्योंकि तुम परम धैर्यवान् तत्त्वमें प्रवेश कर चुके हो, इसलिए निश्चय ही वह घरमें आनन्द न पायेगी; जैसे कि चित्तके शान्त दान्त और विवेकशील (या एकान्तसेवी) हो जानेपर दार्शनिक (योगी) की बुद्धि काम-सुखमें रमण नहीं करती है। ६०

इत्यर्हतः परमकारुणिकस्य शास्तु-
मूर्ध्ना वचश्च चरणौ च समं गृहीत्वा।
स्वस्थः प्रशान्तहृदयो विनिवृत्तकार्यः
पार्श्वान्मुनेः प्रतिययौ विमदः करीव ॥६१॥

तब परम कारुणिक पूज्य शास्ता के वचन और चरणोंको एक

साथ ही शिरोधार्य करके स्वस्थ-चित्त शान्त-हृदय और परिपूर्ण-कार्य नन्द मुनिके समीपसे मद-मुक्त हाथीके समान चला गया। ६१

भिक्षार्थं समये विवेश स पुरं दृष्टीर्जनस्याक्षिपन्
लाभालाभसुखासुखादिषु समः स्वस्थेन्द्रियो निस्पृहः।
निर्मोक्षाय चकार तत्र च कथां काले जनायार्थिने
नैवोन्मार्गगतान्परान्परिभवन्नात्मानमुत्कर्षयन् ॥६२॥

उसने भिक्षाकेलिए समयपर नगरमें प्रवेश किया, वह पुरवासियों की दृष्टिको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था, वह हानि-लाभ दुःख-सुख आदि (द्वन्द्वों) में समान और इच्छा-रहित था। वहाँ उसने प्रार्थी लोगोंको समयपर मोक्षकी कथा कही; किन्तु उसने विपरीत-मार्गपर चलनेवाले दूसरे लोगोंकी न निन्दा की और न अपनी श्रेष्ठता ही प्रकट की। ६२

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥६३॥

मोक्ष-धर्मकी व्याख्यासे परिपूर्ण यह कृति शान्ति प्रदान करनेके लिए है, न कि आनन्द देनेकेलिए; अन्यमनस्क श्रोताओंको आकृष्ट करनेकेलिए यह (कृति) काव्य-शैलीमें रची गई है। इसमें मोक्ष-धर्म के अतिरिक्त मेरे द्वारा जो कुछ कहा गया है सो इसे काव्य-धर्मके अनुसार सरस बनानेकेलिए ही, जैसे कि तिक्त (कटु) ओषधिको पीने लायक बनानेके लिए उसमें मधु मिलाया जाता है। ६३

प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति।

तद्बुद्ध्वा शामिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितं
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥६४॥
सौन्दरनन्दे महाकाव्य आज्ञाव्याकरणो नामाष्टादशः सर्गः ।
आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्व-
घोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियं ॥

संसारको प्रायः विषयानन्दमें लीन तथा मोक्षसे विमुख देखकर मोक्षको ही सबसे ऊपर समझते हुए मैंने इसमें तत्त्वका उपदेश दिया है ऐसा समझकर सावधानीपूर्वक इसमेंसे शान्ति-दायक वस्तुको ही, न कि आनन्द-दायक (ललित) वस्तुको, ग्रहण करना चाहिए; जैसे कि लोग धातुके कणोंमेंसे उपयोगी सुवर्ण (-कणों) को ही ग्रहण करते हैं। ६४

सौन्दरनन्द महाकाव्यमें "आज्ञा-व्याकरण"
नामक अष्टादश सर्ग समाप्त।

आर्य सुवर्णाक्षी-पुत्र साकेत-निवासी महाकवि महावाग्मी
भिक्षु आचार्य भदन्त अश्वघोषकी यह कृति।

परिशिष्ट

पाठान्तर, संशोधन और टिप्पणी

१।१६ घ—श्रियाश्च ?
२।४५ ग—अशक्यशक्य०
३।३० घ—उपासकः
४।६ ख—नान्दी०
४।३७ ख—स वेणुस्वनया
४।३७ ग—चण्डे

५।४४ घ—यदा
७।३७ घ—ह्रियं न रोषे न
तपो ररक्ष।
६।५ घ—यथावबुध्ये
६।८ ख—उपनीयते
९।४२ घ—सस्यलालसा
६।४४ ख—प्रतापयन्
१०।१२ ख—मयूरपित्तो०
१३।२६ क—अविलेखस्य
१५।८ घ—वध्या
१६।८१ क—प्रभृतीनि
१६।६३ घ—०सिद्ध्या
१७।५६ ग—मैत्रं
१८।१४ घ—काये च

३।८ अनु०—"अमृत (सत्य) के लिए लालायित देवगण"।

३।१३—प्रत्येक आर्य सत्यके बारेमें (१) यह आर्य सत्य है, (२) यह आर्य सत्य जानना चाहिए, (३) यह आर्य सत्य जान लिया गया है, इस तरह तेहराकर चार आर्य सत्योंके बारह प्रकार हैं।

३।३७ टि०—"डा० जौन्स्टन के अनुसार ३३-३४ के बीचका श्लोक लुप्त है, जिसमें वाणी के दो कुशल कर्म परुष-वचन-विरति और संप्रलापविरतिका वर्णन आया होगा। किंतु मैं समझता हूँ श्लोक ३३ में ही वाणी के चारों सुकर्मोंका उल्लेख है। अप्रिय नहीं कहना परुष वचन (=कठोर वचन)—विरति है तथा अहितकारी वचन न कहना संप्रलाप (=व्यर्थ वचन)-विरति है। 'श्लक्ष्ण' का अर्थ 'प्रिय' अच्छा होगा (दे० सौ० ११।२१)।

१०।२५—तत—जिसमें तार या ताँतका उपयोगहोता है; जैसे वीणा तम्बूरा सारङ्गी वेला सरोद आदि। अवनद्ध (आनद्ध)—चमड़े से मढ़ा हुआ, जैसे ढोल नगारा तबला मृदङ्ग खंजड़ी

आदि। सुषिर—जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायुका उपयोग होता हो, जैसे वंशी, शहनाई, बैण्ड, हार्मोनियम, शङ्ख आदि। घन—परस्पर आघातसे बजाने योग्य। जैसे झाँझ मजीरा करताल आदि।

—कल्याण, हिन्दू संस्कृति अङ्क चौसठ कलाएँ, पृष्ठ ६६६। उसी अङ्कका 'प्राचीन भारतके वाघ्य-यन्त्र' भी द्रष्टव्य है।

१६।२६-२७--डा० जौन्स्टनने २६ वें पद्यके 'धर्म' को निर्वाणके अर्थमें लिया है और इस प्रकार २६ और २७ को मिलाकर एक साथ अर्थ किया है। किंतु रचना और व्याकरणकी दृष्टि से दोनों पद्य एक दूसरेसे अलग हैं। २६ के 'धर्म' और २७ के 'पद' में लिङ्ग-भेद भी है। मैंने १२।१६ के 'धर्म' और १२।१७ के 'परम पद' के समान ही यहाँ भी दोनोंको पृथक् पृथक् ही रखा है। इस सम्बन्धमें १७।३१,३२,६५ और ७२ द्रष्टव्य हैं।

'तृष्णा-विराग' का 'तृष्णा-विमुक्त' और 'त्राण' का 'त्राणरूप' अर्थ करना अच्छा होगा। नैष्ठिक पद = परम पद = निर्वाण-पद।

बुद्धचरित १।२५ घ—रुजो नराणां प्रशमं प्रयाताः।

नामानुक्रमणी

*सूनापरान्त जनपदमें पूर्णका जाना, देखिये 'पुण्णोवाद सुत्तन्त', मज्झिम निकाय ।

——

५६

संस्कृत-भवनके प्रकाशन

हर्षचरित, बाणभट्ट-कृत, गद्य-काव्य, ऐतिहासिक कृति, बाणकी संक्षिप्त आत्म-कथाके साथ सम्राट् हर्षवर्धनकी आरम्भिक जीवनी, भूमिका नामानुक्रमणी और शब्दानुक्रमणीके साथ हिन्दी अनुवाद।

पूर्वार्ध, उच्छ्वास १–४, प्रथम संस्करण १६५० ई०। २॥)

उत्तरार्ध, उच्छ्वास ५–८, प्रथम संस्करण १६४८ ई०। २॥)

बुद्धचरित, अश्वघोष-कृत, भगवान् बुद्धकी सर्वश्रेष्ठ प्राचीन जीवनी।

प्रथम भाग, सर्ग १–१४, जन्मसे बुद्धत्व-प्राप्तितक, मूल संस्कृत और प्रथम हिन्दी-अनुवाद, भूमिका परिशिष्ट शब्दानुक्रमणी तथा प्रथम सर्गके मूलोद्धारके साथ, तृतीय संस्करण १६५५ ई०। अजिल्द २।)
सजिल्द ३)

द्वितीय भाग, सर्ग १५–२८, प्रथम धर्मोपदेशसे महापरिनिर्वाणतक, प्रथम हिन्दी अनुवाद, नामानुक्रमणी सहित, द्वितीय संस्करण १६५३ ई०। १॥)

सौन्दरनन्द, अश्वघोष-कृत, सौन्दर्य और वैराग्यसे परिपूर्ण १८ सर्गोंका महाकाव्य।

मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद, सम्पूर्ण, भूमिका और नामानुक्रमणीके साथ, द्वितीय संस्करण १६५६ ई०। ३)

जातकमाला, आर्यशूर-कृत, आलङ्कारिक संस्कृत गद्य-पद्यमें ३४ उपदेश-प्रद जातक-कथाओं का संग्रह। इन कथाओंमें नैतिक और आध्यात्मिक परिपूर्णताका आदर्श चित्रित है।

जातक १–२०, मूल संस्कृत और हिन्दी-अनुवाद, भूमिका-सहित, प्रथम संस्करण, १६५२ ई०। ३)

प्रकाशक—

(१) **संस्कृत-भवन,**
पूर्णिया (बिहार)
Purnea (Bihar)

(२) **संस्कृत-भवन, कठोतिया**
पो० काझा, जिला पूर्णिया (बिहार)
Kajha, Purnea